वसिष्ठ उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान्मनुर्ब्रह्मगृहं ययौ । इक्ष्वाकुरपि तां दृष्टिमवष्टभ्य स्थिरोऽभवत् ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुमनुसंवादे इक्ष्वाकुप्रबोधनं नाम द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! इस प्रकार कहकर मनुभगवान् मेरु शिखर के ऊपर चले गये और इक्ष्वाकु भी उस दृष्टि का अवलम्बन कर स्थिर हो गये ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में इक्ष्वाकुमनुसंवाद में इक्ष्वाकुप्रबोधन नामक कुसुमलता का एक सौ बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२२ ॥

१२३

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते हि भगवञ्जीवन्मुक्तस्य सन्मतेः ।
अपूर्वोऽतिशयः कोऽसौ भवत्यात्मविदांवर ! ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञस्य कस्मिंश्चिदेवांशे भवत्यतिशयेन धीः ।
नित्यतृप्तः प्रशान्तात्मा स आत्मन्येव तिष्ठति ॥ २ ॥
मन्त्रसिद्धैस्तपःसिद्धैस्तन्त्रसिद्धैश्च भूरिशः ।
कृतमाकाशयानादि का तत्र स्यादपूर्वता ॥ ३ ॥
अणिमाद्यपि सम्प्राप्तं तादृशैरेव भूरिशः ।
यत्नेन साधितत्वात्तैर्नेतरेणाऽऽत्मदर्शिना ॥ ४ ॥
एष एव विशेषोऽस्य न समो मूढबुद्धिभिः ।
सर्वत्रास्थापरित्यागान्नीरागममलं मनः ।
भवेत्तस्य महाबुद्धेर्नासौ वस्तुषु मज्जति ॥ ५ ॥

१२३

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ भगवन् ! आपने जीवन्मुक्तों के लक्षणों का वर्णन किया है ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष में कौन-सा विशेष रहता है ? ॥ १ ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुष की बुद्धि अन्यसिद्धों के अगम्य विषय में परमात्मतत्त्वांश में ही दृढ़रूप से स्थित हो जाती है, यही कारण है कि नित्यतृप्त शान्तचित्त होकर वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है और कुछ नहीं चाहता अर्थात् उस जीवन्मुक्त पुरुष में अन्य सिद्धों द्वारा अनुभूत न होने वाला निरतिशयानन्द का अनुभव ही विशेष है ॥ २ ॥

मन्त्र की सिद्धि से, तप की सिद्धि से एवं तन्त्र की सिद्धि से युक्त सिद्धों के द्वारा प्राप्त की गईं जो नानाविध आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं उनमें सर्वात्मभाव रखने वाले ज्ञानी के लिए कौन-सी अपूर्व बात है अर्थात् मन्त्र सिद्धि आदि से सिद्ध हुए पुरुषों के रूप से भी मैं ही अवस्थित हूँ, इस तरह की सर्वात्मबुद्धि होने के कारण उन सिद्धों द्वारा प्राप्त आकाशगमन आदि सिद्धियों की भी ज्ञानी ने प्राप्ति कर ही ली है, इसलिए उन सिद्धियों में उसे कुछ भी अपूर्वत प्रतीत नहीं होती ॥ ३ ॥

मन्त्रसिद्धि आदि से युक्त उन्हीं नानाविध सिद्धों ने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति की है उन सिद्धियों की भी आत्मज्ञानी विद्वान् ने अनायास ही प्राप्ति कर ली है, इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है अर्थात् यदि अणिमा आदि सिद्धियों को दूसरे प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनमें अपूर्व शब्द का अर्थ भी घटता है, तथापि अनेक मन्त्रसिद्ध आदि पुरुषों द्वारा उनकी प्राप्ति की गई है; इसलिए उनमें भी अपूर्वता नहीं है ॥ ४ ॥

इसमें यही विशेष है कि यह मूढ़बुद्धि पुरुषों के समान नहीं रहता यानी तत्त्वज्ञान ही इसमें विशेष है। इस प्रसिद्ध महाबुद्धि का मन सर्वत्र बाह्य वस्तुओं में आसक्ति के परित्याग से निरन्तर रागशून्य तथा निर्मल ही बना रहता है और यह ज्ञानी पुरुष कभी-भी भोग्य विषयों में नहीं फँसता ॥ ५ ॥

**एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्तेः संशान्तसंसृतिचिरभ्रमनिर्वृतस्य ।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोपविषादमोह- लोभापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥ ६ ॥**

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे अज्ञादेर्ज्ञस्य विशेषकथनं नाम त्रयोविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

जिसका स्वरूप समस्त धर्मों से रहित ब्रह्मचैतन्य बन गया है तथा तत्त्वज्ञान से दीर्घकालिक सांसारिक भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण जो विश्रान्त हो चुका है ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुष का इतना ही लक्षण है कि उसमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियों का प्रतिदिन अत्यन्त अपक्षय ही रहता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय निर्वाणप्रकरण में आत्मज्ञानी के तत्त्व-ज्ञान के विशेषकथन नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२३ ॥

१२४

वसिष्ठ उवाच

**यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्रो दुरीहया ।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः ॥ १ ॥
भूतानि द्विविधान्येव प्रतिसर्गं स्फुरन्ति वै ।
आद्यविस्पन्दजातानि तानि निष्कारणानि वै ॥ २ ॥
ईश्वरात्समुपागत्य पुनर्जन्मान्तराणि च ।
भूतान्यनुभवन्त्यङ्ग स्वकृतैरेव कर्मभिः ॥ ३ ॥
कार्यकारणभावोऽयमीदृशो जन्मकर्मणोः ।
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात् ॥ ४ ॥**

१२४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जैसे कोई ब्राह्मण नीच स्त्री की अपेक्षाकर अपने स्वभावसिद्ध सात्त्विक ब्राह्मणधर्म का धीरे-धीरे उल्लङ्घन कर दीर्घकाल से बाद नीचरूपता को अङ्गीकार करता है वैसे ही परब्रह्म परमात्मा भी बुद्धि आदि के सङ्ग से बुद्धिजनित भोग की इच्छा से अपने नित्यसिद्ध पूर्णानन्द स्वभाव का उल्लङ्घन कर जीवरूपता को अङ्गीकार करता है अर्थात् दूसरी सिद्धियों की अपेक्षा आत्मज्ञान का उत्कर्ष इसलिए है कि वह नित्य निरतिशयानन्दानुभवरूप है और प्रत्यगात्मा की निरतिशयानन्दरूपता इसलिए है कि वह ब्रह्मरूप हैं, इस बात को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए ब्रह्म ही अपने स्वरूप की उपेक्षा से जीवरूप को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

प्रत्येक सृष्टि में दो तरह के उपाधि की प्रधानता से भोग्य और उपहित की प्रधानता से भोक्ता पदार्थ आविर्भूत होते हैं। वे दोनों तरह के पदार्थ माया में रहनेवाले अनादि दो तरह की संस्कार परम्परा का अनुसरण कर रहे हिरण्यगर्भ के प्रथम स्पन्द से उत्पन्न होते हैं और मिथ्यारूप होने के कारण वे किसी प्रकार की असली सामग्री की अपेक्षा नहीं करते। ठीक ही है कि स्वप्न के घट आदि पदार्थ दण्ड, चक्र आदि सामग्री की अपनी उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं रखते ॥ २ ॥

उपहित चैतन्य के द्वारा सम्पादित कर्मों से ही प्राणी ईश्वर से निकल कर भिन्न-भिन्न अनेक तरह के जन्मों का अनुभव करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि ईश्वर को जीवरूप बनने में कर्मों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जीवरूप बन जाने के बाद शरीर आदि के उत्पादन में पूर्व-पूर्व देह आदि से जनित कर्मों की अपेक्षा होती है। जल में प्रतिबिम्ब पड़ने में सूर्य को चलनादि क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सूर्य प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न तरङ्गों में संक्रान्त होने के लिए या तद्-तत् तरङ्ग आदि गत प्रतिबिम्ब के विकार का अनुभव करने के लिए उपाधिक्रिया की अपेक्षा होती है, यह नियम है। इसी नियम के अनुसार ईश्वर को प्रकृति में कर्म की अपेक्षा नहीं होती ॥ ३ ॥

जन्म और कर्म का परस्पर यह कार्यकारणभाव इसी तरह का है। समस्त जीव परमपिता परमात्मा से निष्कारण ही चले आ रहे हैं ॥ ४ ॥

पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ।
आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् ॥ ५ ॥
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।
मोक्षस्तु निःसङ्कल्पित्वं तदभ्यासपरो भव ॥ ६ ॥
सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसम्भ्रमे ।
अजस्रमेव सङ्कल्पदशाः परिहरञ्छनैः ॥ ७ ॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ८ ॥
अजस्रं यं यमेवार्थं पतत्यक्षगणोऽनघ ।
बद्ध्यते तत्र रागेण तत्राऽरागेण मुच्यते ॥ ९ ॥
किञ्चिद्यद्रोचते तुभ्यं तद्बद्धोऽसि भवस्थितौ ।
न किञ्चिद्रोचते चित्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १० ॥

परम पिता परमात्मा से निकलने के बाद उन जीवों से अपने-अपने जो कर्म हैं वे सुख और दुःख के कारण होते हैं तथा अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उत्पन्न हुआ जो सङ्कल्प और विकल्प रहता है वही दुःखादि जनक कर्मों का कारण होता है ॥ ५ ॥

इस संसाररूपी बन्धन का एकमात्र सङ्कल्प ही कारण है, इसलिए आप उसका परित्याग कर दीजिये। और सङ्कल्प का अभाव ही मोक्ष है, इसलिए आप सङ्कल्प विनाश के अभ्यास में तत्पर हो जाये ॥ ६ ॥

शनैः-शनैः निरन्तर सङ्कल्प-विकल्प की अवस्थाओं का परिहार करते हुए आप विषय और इन्द्रियों के विभ्रमों से सावधान हो जाइये, क्योंकि विषय और इन्द्रियों का विभ्रम होनेपर ही किसी में अनुकूलता और किसी में प्रतिकूलता समझकर प्रवृत्ति और निवृत्ति का सङ्कल्प हुआ करता है तथा फिर पुरुष विषय बन्धनों में फँस जाता है, इसलिए सङ्कल्प की जड़ खोदन में सावधान होना परम आवश्यक है ॥ ७ ॥

न तो आप अपने को बाह्य विषयरूप समझिये और न ग्राहक इन्द्रिय आदि रूप ही समझें। आप समस्त विषयों की चिन्ता का परित्याग कर पर सीमा में विद्यमान रहने वाला जो साक्षी स्वरूप है तद्रूप बन जायें ॥८॥

हे निष्पाप रामभद्र ! इन्द्रियों का समुदाय जिस अर्थ की ओर निरन्तर दौड़ता है उस अर्थ में राग द्वारा बद्ध हो जाता है, इसलिए उन अर्थों में राग न करने वाला पुरुष ही मुक्त होता है ॥ ९ ॥

इस संसारस्थिति में यदि आपको कोई चीज अच्छी लगती है, तो आप बद्ध हैं और यदि आपको अपने चित्त में कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है, तो आप मुक्त हैं, यह जान समझे अर्थात् राग और विराग का अलग-अलग स्वरूप बतलाते हुए उनसे क्रमशः बन्ध और मोक्ष होता है ॥ १० ॥

तस्मात्पदार्थनिचयात्सह स्थावरजङ्गमात् ।
तृणादेर्देवकायान्तान्मा किञ्चित्तव रोचताम् ॥ ११ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि तत्र मुक्तमतिः शमी ॥ १२ ॥
सन्तोऽतीतं न शोचन्ति भविष्यच्चिन्तयन्ति नो ।
वर्तमानं च गृह्णन्ति कर्म प्राप्तमखण्डितम् ॥ १३ ॥
मनसि ग्रथिता भावास्तृष्णामोहमदादयः ।
मनसैव मनो रामच्छेदनीयं विजानता ॥ १४ ॥
विवेकेनाऽतितीक्ष्णेन बलादय इवाऽयसा ।
मनसैव मनश्छिन्धि सर्वभ्रमस्य शान्तये ॥ १५ ॥
क्षालयन्ति मलेनैव मलं क्षालनकोविदाः ।
वारयन्त्यस्त्रमस्त्रेण विषं प्रतिविषेण च ॥ १६ ॥

तुच्छातितुच्छ तृण से लेकर उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ-शरीरतक के जितने स्थावर-जङ्गमरूप पदार्थ हैं उनमें से कोई भी आपको रुचिकर न हो ॥ ११ ॥

जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ आप खाते हैं, जो कुछ होमते हैं, जो कुछ देते हैं; उन सब क्रियाओं में जितेन्द्रिय और कूटस्थ-आत्मा में प्रविष्टमति हो जानेपर न आप कर्ता होते हैं और न भोक्ता ही होते हैं ॥ १२ ॥

जो उत्तम पुरुष हैं वे न तो गयी-गुजरी वस्तु के विषय में शोक करते हैं, और न भविष्य के विषय में चिन्ता ही करपे हैं। वे तो वर्तमान काल में जो कुछ कर्म प्राप्त हो जाता है उसी को यथावत् अङ्गीकार कर लेते हैं ॥१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! तृष्णा, मोह, मद आदि जितने हेय भाव हैं वे सब मन में ही गुथे हुए रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को अपने मन से ही मन को कुचल देना चाहिए अर्थात् सब बन्धनों पर विजय पाने के लिए एकमात्र मनपर विजय पाना ही उपाय है और मनपर विजय मन से ही हो सकती है ॥ १४ ॥

सब भ्रमों की शान्ति के लिए अतितीक्ष्ण विवेकयुक्त मन से दोष युक्त मन वैसे ही काटा जाता है जैसे अति तीक्ष्ण लोहे से लोहा काटा जाता है ॥ १५ ॥

मल हटाने का विज्ञान रखने वाले विद्वान् लोग मल से ही मल को धो डालते हैं, अस्त्र से अस्त्रों का वारण करते हैं और विष से विष को दूर करते हैं ॥ १६ ॥

जीवस्य त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराणि च ।
तत्राऽस्य यत्परं रूपं तद्भज द्वे परित्यज ॥ १७ ॥
पाणिपादमयो योऽयं देहो भोगाय वल्गति ।
भोगार्थमेतज्जीवस्य रूपं स्थूलमिहाऽऽस्थितम् ॥ १८ ॥
स्वसङ्कल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत् ।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामाऽऽतिवाहिकम् ॥ १९ ॥
आद्यन्तरहितं सत्यं चिन्मात्रं निर्विकल्पकम् ।
यत्तद्विद्धि परं रूपं तृतीयं विश्वरूपकम् ॥ २० ॥
एतत्तुर्यपदं शुद्धमत्र बद्धपदो भव ।
संपरित्यज्य पूर्वे द्वे मा तत्राऽऽत्ममतिर्भव ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु स्थितं त्रिष्वप्यलक्षितम् ।
तुर्यं ब्रूहि विशेषेण विविच्य मुनिनायक ! ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ २३ ॥
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ २४ ॥
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं सङ्कल्पानामसम्भवात् ।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडतास्थितेः ॥ २५ ॥
शान्तसम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
विलीनं तुर्यमेवाऽऽहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ २६ ॥
अहङ्कारकलात्यागे समतायाः समुद्भवे ।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ २७ ॥
अथेमं शृणु दृष्टान्तं कथ्यमानं मयाऽधुना ।
प्रबुद्धोऽपि यथा बोधमुपैषि विबुधोपम ! ॥ २८ ॥
कस्मिंश्चित्काननाभोगे महामौनं व्यवस्थितम् ।
दृष्ट्वाऽद्भुतमिदं किञ्चिन्मुनिं पप्रच्छ लुब्धकः ।
पश्चादुपगतो बाणभिन्नं मृगमभिद्रुतम् ॥ २९ ॥

जीव के तीन रूप हैं—एक स्थूल, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा पर। उनमें से इसका तीसरा जो पर रूप है उसका तो आप आश्रयण कीजिये और बाकी बचे दो रूपों को मन से काट दो अर्थात् जीव तो मन से वेष्टित रहता है, उसमें से कितना अंश अलग करके मन से काट देना चाहिए, यह बतलाने के लिए जीव के स्वरूपों का विभाग करते हैं ॥ १७ ॥

हाथ-पैरवाला जो यह शरीर भोग के लिए निरन्तर लालायित रहता है वही यहाँ भोगार्थ इस जीव का स्थूल स्वरूप स्थित है ॥ १८॥

हे रामजी ! सङ्कल्प प्रचुर रूप धारण करने वाला तथा संसारस्थिति तक रहनेवाला जो चित्त है उस चित्त को ही इस जीव का आतिवाहिक दूसरा रूप समझें ॥१९॥

आदि और अन्त से निर्मुक्त, अबाधित, चैतन्यमात्र, समस्त विकल्पों से निर्मुक्त तथा समस्त विश्व का प्रकाश करनेवाला जो रूप है वही इसका तीसरा रूप है, यह आप जानें ॥ २० ॥

यही परमपवित्र तुर्यपद है इसी में आप अपनी स्थिति बाँध लीजिये, पहले के दो रूपों का परित्याग कर उनमें आत्मबुद्धि मत करें ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुनिनायक ! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में स्थित स्पष्ट-रूप से न देखा गया तुर्यरूप है उसे विशेषरूप से खूब अच्छी तरह विचार करके कहें ॥ २२ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—अहंभाव तथा सत् और असत् का त्याग करके जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूप स्थित रहता है वही तुर्यरूप है ॥ २३ ॥

जीवन्मुक्तों में जिसकी अन्तिम स्थिति है, जो स्वच्छ, और शान्त है, जो व्यवहारकाल में 'साक्षी की अवस्था' प्रसिद्ध है वही तुर्यावस्था कही जाती है ॥ २४ ॥

सङ्कल्पों का अभाव रहने से यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञान का अभाव रहने से यह न सुषुप्त ही है ॥ २५ ॥

सामने दिखाई दे रहा यह जगत् है, उसकी ज्ञान से हुई जो निवृत्ति है, उसी को शान्त एवं अच्छी तरह प्रबुद्ध पुरुषों का तुर्यपद कहते हैं, यही संसार अप्रबुद्ध अज्ञानी पुरुषों के लिए स्थिररूप से अवस्थित है ॥ २६ ॥

अहङ्कार का त्याग होनेपर जब समता की उत्पत्ति हो जाती है तब जल में विलीन हुए नमक के टुकड़े के समान चित्त के गल जानेपर तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है ॥ २७ ॥

हे देवोपम श्रीरामजी ! अनन्तर अब आप इस दृष्टान्त को सुनें, जो मैं कह रहा हूँ, उससे प्रबुद्ध आप और अधिक बोध को प्राप्त करेंगे ॥ २८ ॥

किसी एक विस्तृत घने जङ्गल में महामौन धारण कर बैठे किसी एक अद्भुत मुनि को देखकर बाण से विद्ध भागे हुए मृग के पीछे दौड़े जा रहे एक व्याध ने उस मुनि से पूछा ॥ २९ ॥

मुने ! मदीयबाणेन विद्धो मृग इहाऽऽगतः ।
क्व प्रयातो मृग इति प्रत्युवाच स तं मुनिः ॥ ३० ॥
समशीला वयं साधो ! मुनयो वनवासिनः ।
नाऽस्माकमस्त्यहङ्कारो व्यवहारेषु यः क्षमः ॥ ३१ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि करोति हि सखे ! मनः ।
अहङ्कारमयं तन्मे नूनं प्रगलितं चिरम् ॥ ३२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्या दशा वेद्मि न काञ्चन ।
तुर्य एव हि तिष्ठेऽहं तत्र दृश्यं न विद्यते ॥ ३३ ॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा मुनिनाथस्य राघव ! ।
लुब्धकोऽर्थमविज्ञाय जगामाऽभिमतां दिशम् ॥ ३४ ॥
अतो वच्मि महाबाहो ! नास्ति तुर्येतरा दशा ।
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवाऽस्तीह नेतरत् ॥ ३५ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ।
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहाऽऽस्थितम् ॥३६॥
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ।
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ॥ ३७ ॥
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ।
तदेव योगिनः सर्वे यत्नात्सम्पादयन्ति हि ॥ ३८ ॥
समस्तसङ्कल्पविलासमुक्ते
तुर्ये पदे तिष्ठ निरामयात्मा ।
यत्र स्थिताः साधु सदैव मुक्ताः
प्रशान्तभेदा मुनयो महान्तः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे मृगव्याधीयं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२४ ॥

हे मुने ! मेरे वाण के द्वारा घायल हुआ एक मृग यहाँ आया था, वह कहाँ चला गया ? इस तरह का उस व्याध का प्रश्न सुनकर उस मुनि ने उस व्याध को उत्तर दिया ॥ ३० ॥

हे साधो ! हम जङ्गल के निवासी मुनि सब समान-शीलवाले होते हैं। व्यवहारों में समर्थ जो अहङ्कार रहता है यह हम लोगों में है नहीं ॥ ३१ ॥

हे सखे ! सम्पूर्ण इन्द्रियों का कार्य अकेला अहङ्कार-रूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसन्देह चिर-काल से बिलकुल गलित हो चुका है ॥ ३२ ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त नामक किसी भी दशा को मैं नहीं जानता, एकमात्र उसी तुर्यपद में मैं अवस्थित रहता हूँ, जहाँ दृश्य नहीं रहता ॥ ३३ ॥

हे राघव ! उस मुनि सर्वश्रेष्ठ का ऐसा वचन सुनकर वह बहेलिया उसके अर्थ को न समझकर अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया ॥ ३४ ॥

इसीलिए मैं कहता हूँ कि हे महाबाहो ! तुर्य से अन्य कोई दशा नहीं है। निर्विकल्पक चित् ही तुर्य है और वही यहाँ पर विद्यमान है, अन्य कुछ नहीं ॥ ३५ ॥

क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त तीनों चित्त के रूप हैं। घोर, शान्त और मूढ़ तीन रूप से अपना चित्त यहाँ पर अवस्थित है ॥ ३६ ॥

जाग्रत् अवस्था का चित्त घोर है, स्वप्न-अवस्था का चित्त शान्त है और सुषुप्त भाव में स्थित है मूढ़ चित्त। रज आदि गुणोंवाली माया का उच्छेद हो जानेपर इन तीनों से हीन हुआ चित्त मृत है ॥ ३७ ॥

जो मृत चित्त है उसमें एकमात्र सत्त्व ही, भस्म में शुक्लता की तरह समरूप से स्थित रहता है। इसी का समस्त योगी जन समाधि के अभ्यास से बड़े यत्न के साथ उपार्जन करते हैं, क्योंकि वैसे चित्त में निर्मलता अधिक रहने से स्वात्म सुख का सदा ही आविर्भाव रहता है। अर्थात् योगियों के अवशिष्ट प्रारब्ध के भोग के लिए, भस्म में शुक्लता की तरह मृतचित्त में केवल सत्त्वांश ही बच जाता है, रज और तम के अंश का तो लेश भी नहीं रहता है ॥ ३८ ॥

समस्त सङ्कल्पों के विलासों से मुक्त उस तुर्यपद में अपनी सांसारिक आत्मा को सब विकारों से शून्य बनाकर आप स्थित रहे जिसमें भलीभाँति स्थित रहकर अनेक बड़े-बड़े मुनिजन भेद को शान्त करके सदा ही मुक्त हो चुके हैं ॥ ३९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में मृगव्याधीय नामक कुसुमलता का एक सौ चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२४ ॥

१२५

वसिष्ठ उवाच

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्रमम् ॥ १ ॥
शान्त एव चिदाभासे स्वच्छे समसमात्मनि ।
समग्रशक्तिखचिते ब्रह्मेति कलिताभिधे ॥ २ ॥
निर्णीय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
केचिदीश्वररूपत्वं विवदन्ते परस्परम् ॥ ३ ॥
सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवाऽनघ ! ।
निर्वाणवान्निर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ।
आत्मन्येवाऽऽस्स्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ॥ ४ ॥
नित्यमन्तर्मुखो भूत्वा स्वात्मनाऽन्तः प्रपूर्णधीः ।
जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि राघव ! ॥ ५ ॥
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् ॥ ६ ॥
चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तासत्ता परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदेकात्मा नय क्षयमवेदनात् ॥ ७ ॥
दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत्समम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥ ८ ॥
संवेदनीयं न सुखं नाऽसुखं न च मध्यमम् ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन दुःखान्तोऽनन्त आप्यते ॥ ९ ॥
आपीनमण्डलशशाङ्कवदन्तरेव
श्रीमद्रसायनमयः सुखमेति तज्ज्ञः ।

१२५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—द्वैत का अपलाप करना ही सकल अध्यात्म शास्त्रों का परम सिद्धान्त है । यहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है, किन्तु शास्त्रों से जिसका परिज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित नित्य अपरोक्ष ब्रह्म ही है । अर्थात् आत्मा को ले करके प्रवृत्त हुए श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि समस्त शास्त्रों का परम सिद्धान्त सम्पूर्ण द्वैत का अपलाप करना ही है, वह द्वैत चाहे जीव का अविद्या के साथ अवस्थात्रयरूप हो, चाहे ईश्वर का माया के साथ अवकाश आदि प्रपञ्चरूप हो, न कि उनका सिद्धान्त वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करना है; क्योंकि स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा वस्तु के स्वतः सिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है ॥ १ ॥

शान्त, चिदाभासरूप, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूप से विद्यमान तथा समग्र शक्तियों से समन्वित 'ब्रह्म' इस कल्पित नाम में ही अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक तरह के सिद्धान्तों की कल्पना करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपस में विवाद करते हैं अर्थात् श्रुति आदि के सिद्धान्तों का परिज्ञान न होने से ही अपनी बुद्धि के वैभव से जगत् के मूल का अन्वेषण करनेवाले वादियों की—'ब्रह्म' शब्द से वाच्य सम्पूर्ण शक्त्यात्मक मायाशबल ब्रह्म के विषय में बुद्धि में विचित्र दोष आ जाने के कारण अनेक तरह की—कल्पनाएँ हुआ करती हैं ॥ २-३ ॥

हे अनघ ! मायापर्यन्त सभी इस दृश्य समूह का परित्याग करके मनके साथ-साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापारों के उपरम से महामौनी बन जाइये । तदनन्तर मनन रहित, क्षीणचित्त और प्रशान्तबुद्धि होकर पूर्णानन्दरूप चिदात्मा में एकरूप होते हुए गूँगे, अन्धे और बधिर के सदृश शान्तात्मा बनकर आप अपने स्वरूप में ही स्थित रहे ॥ ४ ॥

हे राघव ! अपने आप नित्य अन्तर्मुख तथा अपने अन्दर पूर्णबुद्धि होकर पञ्चमादि भूमिकाओं को जीत लेने के कारण जाग्रदवस्था में स्थित होते हुए भी सुषुप्त-जैसे स्थित होकर आप कर्म करते चलें ॥ ५ ॥

भीतर से सबका परित्याग करते हुए आप बाहर से प्रारब्ध-प्राप्त कार्यों को करते रहें ॥ ६ ॥

हे राघव ! चित्त की सत्ता ही परम दुःख और चित्त की असत्ता ही परम सुख है, चिदेकरूप होते हुए आप प्रिय और अप्रिय का अनुसन्धान न करके चित्त का नाश कर दें ॥ ७ ॥

रम्य या अरम्य वस्तु को देखकर पत्थर के समान समभाव में स्थित रहना चाहिए । बस, इतने ही अपने यत्न से यह संसार जीत लिया जाता है ॥ ८ ॥

संसार-सागर को पार कर जाने की इच्छा रखनेवाले प्राणी को सुख-दुःख और इन दोनों के साधनों की कभी-भी चिन्ता न करनी चाहिए । बस, इतने ही यत्न से अनन्त सुख प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

जिसने तीनों लोकों की सभी वस्तुओं के सार का ज्ञान कर लिया है जो चारो ओर स्वतः फैले हुए प्रकाश

विज्ञातसर्वभुवनत्रयवस्तुसारः कुर्वन्न नाम कुरुते परमभ्युपेतः ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे तुर्ये स्थैर्योपायकथनं नाम पञ्चविंशत्यधिशततमः सर्गः ॥ १२५ ॥

से शोभायमान निरतिशय सुखस्वरूप तथा अमृतमय बन गया है, जो खूब परिपुष्ट हुए मण्डलवाले शशाङ्क के यानी पूर्णचन्द्र के सदृश हो गया है, ऐसा परमात्मस्वरूप को प्राप्त तत्त्वज्ञ अपने अन्दर जीवन्मुक्ति सुख को प्राप्त करता है। प्रारब्ध प्राप्त कार्यों का बाहर से सम्पादन करता हुआ भी वह भीतर से कुछ नहीं करता है ॥ १० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में तुर्य में स्थैर्य का उपायकथन नामक कुसुमलता का एक सौ पचीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२५ ॥

१२६

श्रीराम उवाच

सप्तानां योगभूमीनामभ्यासः क्रियते कथम् ।
कीदृशानि च चिह्नानि भूमिकां प्रति योगिनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च भवति द्विविधः पुमान् ।
स्वर्गापवर्गोन्मुखयोः शृणु लक्षणमेतयोः ॥ २ ॥

कियत्तन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे ।
इति कर्तव्यकर्ता यः स प्रवृत्त इति स्मृतः ॥ ३ ॥

चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत् ।
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान् ॥ ४ ॥

असारा बत संसारव्यवस्थाऽलं ममैतया ।
किं कर्मभिः पर्युषितैर्दिनं तैरेव नीयते ॥ ५ ॥

क्रियातिशयनिर्मुक्तं किं स्याद्विश्रमणं परम् ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः स निवृत्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥

१२६

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे मुने ! सातों भूमिकाओं का अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिका में योगी के चिह्न किस तरह के होते हैं ? ॥ १ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—वेदमार्ग में स्थित पुरुष दो तरह के होते हैं—एक प्रवृत्त और दूसरा निवृत्त। प्रवृत्ति मार्ग का पथिक स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला तथा निवृत्ति मार्ग का पथिक मोक्ष का अभिलाषी होता है। स्वर्ग और अपवर्ग की ओर उन्मुख हुए इन दोनों का लक्षण मैं कहता हूँ आप सुनें ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण विषयों से शून्य है, वह प्रसिद्ध निर्वाण पदार्थ चीज ही क्या है ? तात्पर्य यह है कि भोगों में प्रेम रखनेवाले पुरुष उसे कुछ नहीं समझते। थोड़े-बहुत उत्तम या अधम भोगों से सम्पन्न संसार ही मेरे लिए सबसे अच्छा है, यों निश्चय कर वेद प्रतिपादित नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों को करता है वह पुरुष प्रवृत्त कहा गया है ॥ ३ ॥

जीव भी पहले विषय रसास्वाद को ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ अनेक जन्मों के बाद अन्त में भाग्योदय होने पर अध्यात्मशास्त्र के रस का आस्वाद लेकर विवेकी वैसे ही उसमें आसक्त हो जाता है जैसे लवण सागर में स्थित बड़े कछुए की गर्दन अनेक बार कण्ठ के छेद में प्रविष्ट होकर उससे बाहर निकलने पर भी लवण समुद्र के रस का ही अस्वाद लेती तथा उसी को सर्वश्रेष्ठ रस मानती हुई क्षीरसागर के रस को कुछ नहीं जान पाती, किन्तु प्रलयकाल के समय क्षार और क्षीर दोनों सागरों के एक जगह मिलने का अवसर आनेपर दोनों के उदर रूपी छिद्र में ग्रीवा का प्रवेश होनेपर क्षीरसागर के रस का अस्वाद लेकर 'क्षारसागर के रस की अपेक्षा क्षीर-सागर का रस कहीं अधिक स्वादयुक्त है' विवेक सम्पन्न होकर वह ग्रीवा उस क्षीरसागर के रस में ही आसक्त हो जाती है ॥ ४ ॥

संसार की यह व्यवस्था बिलकुल असार है। इस व्यवस्था से मुझे क्या मतलब है, अनुचित परिणामवाले इन कर्मों से ही मैं अपना दिन क्यों गँवाता हूँ ॥ ५ ॥

क्रियाजनित उत्पत्ति, प्राप्ति और विकृतिरूप संस्कारों से निर्मुक्त (कूटस्थ) परम विश्रान्ति का स्थान कौन हो सकता है ? इस प्रकार विचार कर जो अपने अन्तःकरण में 'मुझे इसका अवश्य सम्पादन करना चाहिए'—इस तरह के निश्चय से युक्त पुरुष निवृत्त कहा गया है ॥ ६ ॥

कथं विरागवान् भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम् ।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ ७ ॥
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ ८ ॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति ।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ ९ ॥
मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते ।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ १० ॥
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च ।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ११ ॥
तदाऽसौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम् ।

मैं विरागी बनकर किस तरह संसारसागर को तैर जाऊँ, इस तरह के विचार में तत्पर जब सद्बुद्धि प्राणी होता है तब भोग और उसके साधनों की चिन्ताओं में प्रतिदिन हृदय के अन्दर उसको नीरसता उत्पन्न होती है, चित्तशुद्धि के अनुकूल शौच, सत्सङ्ग, ईश्वरोपासना, जप आदिरूप क्रियाओं में वह पुरुष संसक्त होता है और प्रतिदिन चित्तशुद्धि की वृद्धि से तृष्णा का क्षय हो जाने के कारण वह प्रसन्न होता है ॥ ७-८ ॥

ग्राम्य जड़ चेष्टाओं में वह निरन्तर घृणा करने लग जाता है, दूसरों के छिपे हुए दोषों का वह उद्‌घाटन नहीं करता और स्वयं पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है ॥९॥

अपने तथा दूसरों के मन में उद्वेग न पहुँचानेवाले एवं थोड़े परिश्रम से महाफलवाले यम, नियम आदि कर्मों का वह सेवन करता है, पाप से सदा डरता है और भोगों में पाप अवश्य होने के कारण वह उनकी कभी अभिलाषा नहीं करता ॥ १० ॥

वह स्नेह और प्रणय से पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश और काल के उपयुक्त वचन बोलता है ॥ ११ ॥

जिस समय पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है उस समय वह पहली शुभेच्छा नामक एक भूमिका में प्राप्त होता है तथा मन, कर्म एवं वाणी से शान्ति, दान्ति, ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न सज्जन पुरुषों की सेवा करता है ॥१२॥

किसी जगह से उन सज्जनों की सेवा के अनुकूल धन आदि साधन जुटाकर उनकी सेवा करता हुआ वह उनके मुख से ज्ञानदायक शास्त्रों का यानी पुराणों एवं मोक्ष धर्म का प्रतिपादन करनेवाली अध्यात्म-संहिताओं का श्रवण करता है। संसारसागर को तैर जाने के लिए

मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते ॥ १२ ॥
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ।
एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति ॥ १३ ॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषः स्वार्थ इति स्मृतः ।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ॥ १४ ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ १५॥
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १६ ॥
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ १७ ॥

इस तरह के विचार से सम्पन्न जो पुरुष होता है वह प्रथम भूमिका में प्रविष्ट हुआ कहा गया है, किन्तु उक्त साधनचतुष्टय आदि सम्पत्ति से रहित पुरुष तो अध्यात्मशास्त्रों के अवलोकन में आसक्त होता हुआ भी राग आदि के कारण अनधिकारी पुरुष को ठग-ठग कर उनके द्वारा प्राप्त धनादि से अपना केवल पेट पालन करता है, इसलिए वह वञ्चक कहा गया है। इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने से वह विचार नामक दूसरी योग भूमिका में अवतीर्ण होता है ॥ १३-१४ ॥

उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मों में तत्पर रहने वालों के मध्य में अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण जिन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों का आश्रयण करता है अर्थात् श्रवण-मननादि विचार के लिए आत्म-तत्त्व के अनुभव और उपदेश में अत्यन्त कुशल होने के कारण सर्वश्रेष्ठ गुरुओं की शरण में जाता है 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ॥१५॥

स्वयं व्याकरण आदि षडङ्गों का अच्छा ज्ञाता होने के कारण पदों तथा वाच्यलक्ष्य आदिरूप उनके अर्थों एवं लक्षणा, व्यञ्जना आदि उनके विभागों का जिसे खूब ज्ञान हो चुका है—ऐसा विवेकी शिष्य अपने गुरु के मुख से अध्यात्मशास्त्र का श्रवण कर कार्य और अकार्य का विनिर्णय तत्त्वतः ऐसे जान लेता है, जैसे घर का मालिक अपना घर ॥ १६ ॥

लोकमर्यादा के अनुसार बाहर जो कुछ भी आश्रित मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभ का आधिक्य रहती है, जिस तरह साँप केंचुल को उसे भी वह उस तरह छोड़ देता है ॥ १७ ॥

इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
स रहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १८ ॥
असंसङ्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम् ।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवाऽमलाम् ॥ १९ ॥
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ २० ॥
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो जरयत्यायुराततम् ॥ २१ ॥
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ २२ ॥
अभ्यासात्सानुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम् ।
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ॥ २३ ॥
तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुधोऽनुभवति स्वयम् ।

इस प्रकार पूर्वोक्त सद्वासनाओं से वासित अन्तःकरण वाला वह पुरुष, दूसरी भूमिका में पहुँच कर शास्त्र, गुरु और सज्जनों की सेवा से पूर्णपरमतत्त्व को अच्छी तरह जान जाता है ॥ १८ ॥

अनन्तर असङ्ग नामक अन्य तीसरी योग्य भूमिका में वह पुरुष जैसे कान्त अपनी कान्ता की निर्मल पुष्प-शय्या पर वैसे ही प्रविष्ट होता है ॥ १९ ॥

अध्यात्म विषयक शास्त्रों के आत्मा द्वैत रूप 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यार्थ में अपनी बुद्धि को निश्चलतापूर्वक स्थापित कर तपस्वियों के आश्रमों में, विश्रामों से, अध्यात्मशास्त्रों की कथाओं के क्रमों से तथा वैसे ही संसार की निन्दा करने वाले वैराग्य के साधन क्रमों से पत्थर की चट्टान रूपी शय्या पर आसीन हो अपनी सारी आयु गँवाता है ॥ २०–२१ ॥

चित्त के उपशम से शोभित होने वाले तथा असङ्गता के सुख से सौम्य वनवास के विहार से वह नीतिमान् अपने काल को व्यतीत करता है, क्योंकि गाँव में रहने पर अधिक विक्षेप होने के कारण समाधि के अभ्यास का भली-भाँति निर्वाह नहीं हो सकता है ॥ २२ ॥

अध्यात्म विषयक सत्-शास्त्रों के अभ्यास से तथा पुण्यकर्मों के निमित्त से जीव की यह आत्मदृष्टि वस्तुतः विकसित होती है ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी ! तीसरी भूमिका में पहुँचकर ज्ञानी पुरुष दो तरह के असङ्ग का स्वयं अनुभव करता है। आप उसके इस भेद को सुनें ॥ २४ ॥

द्विःप्रकारमसंसङ्गं तस्य भेदमिमं शृणु ॥ २४ ॥
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ।
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः ॥ २५ ॥
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ।
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ २६ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवाऽत्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ २७ ॥
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कवलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ २८ ॥
अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलग्नमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ २९ ॥
अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनाऽसतामन्तः प्रयोगेणाऽऽत्मसंविदाम् ॥ ३० ॥

यह असङ्ग दो तरह का है--एक पूर्व भूमिका के समान साधारण सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ। अपनी देह की क्रियाओं का कर्ता तथा उन क्रियाओं के फलों का भोक्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं निष्क्रिय तथा नित्यतृप्त हूँ। दूसरों की क्रियाओं तथा उनके फलों का भी मैं बाध्य और बाधक नहीं हूँ, क्योंकि मैं व्यापार शून्य हूँ ॥ २५ ॥

इस तरह के निश्चय से दृश्य पदार्थों में संसक्त न होना ही सामान्य असङ्ग कहा गया है। सुख या दुःख सब कुछ पूर्वकर्म से निर्मित और ईश्वर के अधीन है ॥ २६ ॥

इसमें मेरी कर्तृता कैसी ? ये विस्तृत भोग विषय अन्त में परितापी होने के कारण महारोग हैं तथा ये सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं, क्योंकि इनके उपार्जन और रक्षण के लिए मनुष्यों को नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं ॥ २७ ॥

संयोग सब वियोग के लिए ही हैं और ये मानसिक चिन्ताएँ बुद्धि की व्याधियाँ हैं, सब पदार्थों को विनाश के गड्ढे में ढकेल रहा काल तो उन्हें निगल जाने के लिए ही सदा प्रस्तुत रहता है ॥ २८ ॥

इस तरह अनास्था होने से 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थों में संलग्न चित्तवाले पुरुष की सम्पूर्ण पदार्थों में जो आन्तरिक अभावना है वही सामान्य असङ्ग कहलाता है ॥ २९ ॥

इसी पूर्वोक्त अभ्यासयोग से, महात्माओं की सङ्गति से, दुर्जनों की असङ्गति से, श्रवण-मननात्मक आत्म-विचारों के अन्तःकरण में प्रयोग से तथा लगातार अभ्यास

पौरुषेण प्रयत्नेन सन्तताभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ ३१ ॥
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम ॥ ३२ ॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३३ ॥
यन्नान्तर्न बहिर्नाधो नोर्ध्वं नाऽऽशासु नाम्बरे ।
न पदार्थे नाऽपदार्थे न जडे न च चेतने ॥ ३४ ॥
आसितं भासनं शान्तमभासं नभसा समम् ।
अनाद्यन्तमजं कान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ ३५ ॥
सन्तोषामोदमधुरः सत्कार्यामलपल्लवः ।
चित्तनालाग्रसंलीनविघ्नकण्टकसङ्कटः ॥ ३६ ॥
विवेकपद्मो रूढोऽन्तर्विचारार्कविकासितः ।
फलं फलत्यसंसङ्गं तृतीयां भूमिकामिमाम् ॥ ३७ ॥
समवायाद्विशुद्धानां सञ्चयात्पुण्यकर्मणाम् ।
काकतालीययोगेन प्रथमोदेति भूमिका ॥ ३८ ॥
भूमिः प्रोदितमात्रा तैरमृताङ्कुरिकेव सा ।
विवेकेनाऽम्बुसेकेन रक्ष्या पाल्या प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥
येनांशेनोल्लसत्येषा विचारेणोदयं नयेत् ।
तमेवाऽनुदिनं यत्नात् कृषीवल इवाङ्कुरम् ॥ ४० ॥
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः ।
द्वितीयां भूमिकां यत्नात् तृतीयां प्राप्नुयात्ततः ॥ ४१ ॥

योग द्वारा अपने पुरुष प्रयत्न से संसार सागर के पार, सबके सार, परम कारणभूत आत्मतत्त्व के—प्रमाण और प्रमेय की असंभावना के निरास द्वारा हस्तामलकवत् दृढ़रूप से खूब—स्पष्ट हो जानेवाली आत्मवस्तु है ॥ ३०-३१ ॥

इस विश्वास का विषय हो जानेपर मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु ईश्वर ही कर्ता है; पूर्वजन्म में किया गया या वर्तमान काल में किया जा रहा मेरा कोई कर्म नहीं है इत्यादि अभाव और उसके प्रतियोगी आदि के विषय में विकल्प करनेवालीं शब्दार्थ भावना को भी बहुत दूर फेंक कर जो शान्त मौन रूप से रहता है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है ॥ ३२–३३ ॥

न भीतर, न बाहर, न ऊपर, न नीचे, न दिशाओं में, न आकाश में, न पदार्थों में, न अपदार्थों में न जड़ में और न चिदाभास में यानी बाहर या भीतर आदि सभी वस्तुओं में आलम्बनशून्य होकर स्थित जो स्वप्रकाशचिद्रूप शान्त, अन्य प्रकाशक से शून्य, आकाश के समान स्वच्छ, एकरस और गम्भीर, आदि-अन्त से रहित तथा जो अत्यन्त कान्त ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है ॥ ३४-३५ ॥

सन्तोषरूपी सुगन्ध से मधुर या सन्तोषजनित हर्ष से मधुर-मकरन्दवाला, उपासना, गुरुशुश्रूषा, श्रवण आदि निष्काम कर्मरूपी निर्मल पल्लवों से युक्त और चित्तरूपी नाल के अग्र भाग में संलीन हुए रागादि वासनाओं से उत्पन्न अनेक तरह के विघ्नरूपी कण्टकों से सङ्कीर्ण विचाररूपी सूर्य के विकास को प्राप्त हुआ यह विवेकरूपी कमल हृदय में रूढ़ होकर असङ्गनामक यह तृतीय भूमिकारूप फल फलता है ॥ ३६-३७ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुषों के समवाय से अर्थात् दान, मान, भजन आदि उपायों के द्वारा सम्मेलन से तथा पुण्य कर्मों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका उत्पन्न होती है अर्थात् अनेक जन्मों से संचित सुकृतों के परिपाक तथा इस लोक के पुण्यों के संचय से दैववश कहीं पहली भूमिका ही यदि अङ्कुरित हो गई, तो बड़े प्रयत्न के साथ सज्जनों की सङ्गति आदि करके उसकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि यदि वह कहीं रक्षित रह गई तो, फिर वही द्वितीय आदि भूमिकाओं में अनायास परिणत हो जायगी, इसलिए उसी की रक्षा में अधिक यत्न करना चाहिए ॥ ३८ ॥

शुभ प्रवृत्ति में उन्मुख होने के कारण, मेघों से अङ्कुरित भूमि की तरह तत्त्वज्ञानियों से अङ्कुरित उस प्रथम भूमिका की प्रतिदिन विवेकोपदेशरूपी जल के सिञ्चन से इस तरह प्रयत्नपूर्वक रक्षा और पालन करना चाहिए कि वह सूखने न पावे ॥ ३९ ॥

शुभेच्छानामक यह पहली भूमिका चार साधनों के मध्य में वैराग्यरूपी या शान्त्यादिरूपी जिसी अंश से सर्वप्रथम अङ्कुरित होकर उल्लसित होती है उसी अंश को बड़े यत्न के साथ प्रतिदिन अभिवृद्धि में वैसे ही पहुँचाना चाहिए, जैसे कृषक धान आदि के अङ्कुर को अभिवृद्धि में पहुँचाता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरण में विचार द्वारा उदय को प्राप्त यह पहली भूमिका ही अन्य भूमिकाओं की उत्पत्ति का स्थान बन जाती है। इसी भूमिका के कारण द्वितीय और तृतीय भूमिका को भी यत्न से विवेकी पुरुष प्राप्त कर सकता है ॥ ४१ ॥

श्रेष्ठाऽसंसङ्गता ह्येषा तृतीया भूमिकाऽत्र हि ।
भवति प्रोज्झिताशेषसङ्कल्पकलनः पुमान् ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

मूढस्याऽसत्कुलोत्थस्य प्रवृत्तस्याऽधमस्य च ।
अप्राप्तयोगिसङ्गस्य कथमुत्तरणं भवेत् ॥ ४३ ॥
एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां चेतरां च वा ।
आरूढस्य मृतस्याऽथ कीदृशी भगवन् ! गतिः ॥ ४४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मूढस्याऽऽरूढदोषस्य तावत्संसृतिरातता ।
यावज्जन्मान्तरशतैः काकतालीययोगतः ।
अथवा साधुसङ्गत्या वैराग्यं नाभ्युदेति हि ॥ ४५ ॥
वैराग्येऽभ्युदिते जन्तोरवश्यं भूमिकोदयः ।
ततो नश्यति संसार इति शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥ ४६ ॥

यही श्रेष्ठ असङ्गनामक तीसरी भूमिका है। इस भूमिका में वर्तमान पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्प की कल्पनाओं से शून्य हो जाता है ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! असत्कुल में उत्पन्न, कामोपभोग के लिए प्रवृत्त, अधम तथा योगियों के सङ्ग को न प्राप्त मूढ़ पुरुष का उद्धार कैसे होगा ? अर्थात् सत्कुल में उत्पन्न होना आदि जो वेदान्तशास्त्र के अधिकारियों के लक्षण हैं उन सब विशेषणों से रहित, अध्यात्मशास्त्र की कथाओं से सदा विमुख रहने वाले तथा कामोपभोग के लिए ही प्रवृत्तिमार्ग के पथिक बने हुए अधम पुरुषों को किसी दूसरे उपाय से मोक्ष हो सकता है या नहीं ॥ ४३ ॥

हे भगवन् ! पहली, दूसरी, तीसरी या अन्य किसी भूमिका में आरूढ होकर मर गये प्राणी की कैसी गति होती है ? कहें ॥ ४४ ॥

प्रवृद्ध रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुष को काकतालीय योग से अर्थात् दैवगति से सैकड़ों जन्मों के बाद अपने विचार से या साधुओं की सङ्गति से वैराग्य उत्पन्न न होने तक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है ॥ ४५ ॥

वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है अनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रों के अर्थों का संग्रह है—शास्त्रों का परम सिद्धान्त है ॥ ४६ ॥

प्रथमादि भूमिकाओं में पहुँचकर अपना जीवन उत्सर्ग करनेवाले प्राणियों का भूमिकाओं के प्रकर्ष से ही पूर्व

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ ४७ ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरुपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ ४८ ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ ४९ ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ ५० ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः ।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५१ ॥
भूमिकात्रितयं त्वेतद्राम ! जाग्रदिति स्मृतम् ।
यथावद्भेदबुद्ध्येदं तज्जाग्रदिति दृश्यते ॥ ५२ ॥
उदेति योगयुक्तानामत्र केवलमार्यता ।
यां दृष्ट्वा मूढबुद्धीनामभ्युदेति मुमुक्षुता ॥ ५३ ॥

जन्म का—दुष्कृत नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

अनन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के उपवनों की झाड़ियों में रमणियों, अप्सराओं को साथ लेकर खूब रमण करता है ॥ ४८ ॥

अनन्तर पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों और पापों का भोगसमूहों के नाश हो जाने पर वे योगी पृथिवी पर जन्मग्रहण करते हैं ॥ ४९ ॥

पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीपात्र सज्जनों के सुरक्षित घर में जन्म लेकर ये लोग योग की वासना से वासित अन्तःकरणवाले होने के कारण योग का ही सेवन करते हैं ॥ ५० ॥

वहाँ पर पूर्वजन्म में की गई भावनाओं से अभ्यस्त योग भूमिकाओं के क्रम का स्मरण करके वे बुद्धिमान् आगे की भूमिका के क्रम का खूब अभ्यास करने लग जाते हैं ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामजी ! ये तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गई हैं, क्योंकि इन भूमिकाओं में यथावत् भेदबुद्धि रहने से यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत् काल की तरह ही दिखाई पड़ता है ॥ ५२ ॥

इन तीनों भूमिकाओं में योगयुक्त पुरुषों को केवल पूज्यता उदित होती है, जिसे देखकर 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्याय से मूढ़बुद्धि पुरुषों को भी मुक्त होने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है ॥ ५३ ॥

कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५४ ॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ ५५ ॥
प्रथमायामङ्कुरितं द्वितीयायां विकासितम् ।
फलीभूतं तृतीयायामार्यत्वं योगिनो भवेत् ॥ ५६ ॥
आर्यतायां मृतो योगी शुभसङ्कल्पसंभृतान् ।
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालं योगवाञ्जायते पुनः ॥ ५७ ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ ५८ ॥
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ५९ ॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वाप्नवल्लोकांश्चतुर्थीं भूमिकामिताः ॥ ६० ॥
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते ।
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥ ६१ ॥
सत्तावशेष एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥ ६२ ॥
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ।
सुषुप्तघन एवाऽऽस्ते पञ्चमीं भूमिकामितः ॥ ६३ ॥

नित्य-नैमित्तिक सब कामों को भली-भाँति करने वाला तथा अकर्तव्यों को न करने वाला जो प्राकृत आचार में स्थित रहता है वह आर्य कहा गया है ॥५४॥

अपने वृद्ध पुरुषों के आचारों के अनुसार, शास्त्रोक्त तथा चित्त को प्रसन्न रखने वाले यथास्थित व्यवहारों का जो ग्रहण करता है वह आर्य कहा गया है ॥ ५५ ॥

योगी का वही आर्यत्व शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका में अङ्कुरित, द्वितीय भूमिका में श्रवण आदि के द्वारा विकास को प्राप्त तथा तृतीय भूमिका में चित्त की एकाग्रतारूप फल से फलित होता है ॥ ५६ ॥

इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ सङ्कल्पजनित उत्तम वासनायुक्त भोगों का चिरकालतक उपभोग कर पुनः योगी ही होता है अर्थात् इस तीसरी भूमिका की प्राप्ति के बीच में ही मृत्यु की प्राप्ति होनेपर निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से पापशून्य योगियों को 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपभोग भी देवलोक आदि में करना पड़ता है, परन्तु यह भोग शुभ सङ्कल्पों से उत्पन्न सब वासनाओं से युक्त होने के कारण, काम्यकर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषों की रागादि दुर्वासनाओं के द्वारा अधःपतन का हेतु नहीं होता ॥ ५७ ॥

तीनों भूमिकाओं का अभ्यास करने से अज्ञान के नष्ट हो जानेपर सम्यग्ज्ञान का उदय होने के बाद जब पूर्णचन्द्रोदय के सदृश स्वच्छ चित्त हो जाता है तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए युक्तचित्त योगी सम्पूर्ण जगत् को विभागशून्य, आदि और अन्त से रहित आनन्दैकरस देखते हैं ॥ ५८-५९ ॥

द्वैत के बिलकुल शान्त हो जाने पर अद्वैत के स्थिर हो जाने पर चौथी भूमिका में गये हुए योगी सब लोकों को स्वप्न के समान देखने लगते हैं ॥ ६० ॥

तीन भूमिकाओं को जाग्रत् कहते हैं, क्योंकि जैसे जाग्रत् में व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इनमें भी व्यावहारिक सत्ता से जगत् का भान होता है और चौथी भूमिका को स्वप्न कहते हैं, क्योंकि जैसे स्वप्न में प्रातिभासिक सत्ता से जगत् का भान होता है, वैसे ही इसमें भी भान प्रातिभासिक सत्ता से ही होता है। पञ्चम भूमिका के लिए सुषुप्ति पद का प्रयोग होने में कारणभूत सुषुप्ति का सादृश्य बतलाते हैं। शरत् काल में विच्छिन्न मेघ के विलीन हो जानेपर जैसे केवल शुभ्र आकाशरूप बच जाता वैसे ही पञ्चम भूमिका में सम्पूर्ण व्यापरों के विलीन हो जानेपर केवल शुद्ध चिन्मात्र ही बच जाता है। एवञ्च, पञ्चम भूमिका के लिए जो सुषुप्ति शब्द का प्रयोग आता है इसमें कारण यह है कि सुषुप्ति काल में जैसे समस्त व्यावहारिक भान विलीन हो जाते हैं, वैसे ही इस पञ्चम भूमिका में व्यावहारिक और अवशिष्ट प्रातिभासिक त्रुपुटीभान भी विलींन हो जाते हैं, अतः पञ्चम भूमिका एक तरह से सुषुप्ति के सदृश ही ठहरी, इसलिए सुषुप्ति और पञ्चम भूमिका में समानता होने से पञ्चमभूमिका के लिए सुषुप्तिशब्द का प्रयोग यत्र-तत्र श्रुति आदि में किया गया है ॥ ६१ ॥

पञ्चम भूमिका में पहुँचा हुआ पुरुष केवल चैतन्य-सत्तारूप बनकर रह जाता है। सुषुप्तरूप अमुख्य नाम से कही जा रही पञ्चम भूमिका प्राप्त कर पुरुष समस्त विकरांशों से निर्मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्व में स्थित हो जाता है ॥ ६२ ॥

पांचवीं भूमिका में पहुँचने वाला द्वैतज्ञान से रहित

अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥ ६४ ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम् ॥ ६५ ॥
यत्र नाऽसन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहङ्कृतिः ।
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः ॥ ६६ ॥
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥ ६७ ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाऽम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवाऽर्णवे ॥ ६८ ॥
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ।

हो गाढ सुषुप्त के सदृश स्थित रहता है, उसका अपना पूर्णस्वरूप प्रकाशित हो जाता है और भीतर से ज्ञानी रहता है ॥ ६३ ॥

पांचवी भूमिका में स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्ति से सम्पन्न रहता है। बाह्य व्यापार में तत्पर रहते हुए भी निरन्तर चारों ओर से शान्त होने के कारण निद्रालु के समान दिखाई देता है ॥ ६४ ॥

इस भूमिका में वासनाशून्य हो अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्यानाम की अन्य छठी भूमिका में चला जाता है ॥ ६५ ॥

जहाँपर न तो सत्, न असत्, न अहङ्कार और न अहङ्कार का अभाव ही रहता है, किन्तु क्षीणमनन होने के कारण योगी केवल द्वैत और अद्वैत से शून्य ही रहता है ॥ ६६ ॥

अहङ्कार ग्रन्थि के विच्छिन्न हो जाने से उस योगी के सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और वासनाओं से शून्य जीवन्मुक्त वह योगी निर्वाण को न प्राप्त कर भी देह धारण करते हुए भी अहङ्कार और वासनाओं से शून्य होने के कारण निर्वाण को प्राप्त चित्रलिखित प्रदीप की तरह स्थित रहता है ॥ ६७ ॥

वह जीवन्मुक्त योगी जड़ जगत् के स्वभाव से बाहर और भीतर से शून्य, आकाश में शून्य घट की तरह स्थित रहता है तथा आनन्दपरिपूर्ण स्वभाव होने के कारण बाहर और भीतर से पूर्ण हो सागर में परिपूर्ण घट के समान स्थित रहता है ॥ ६८ ॥

उसके अद्वितीय रूप की संसार-दशा में कभी प्रसिद्धि न होने से वह किसी उत्तम आश्चर्यमय अपूर्व रूप से सम्पन्न रहता है या वास्तविक दृष्टि से तो वह किसी भी

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ॥६९॥
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु ॥ ७० ॥
कैश्चित्सा शिवमित्युक्ता कैश्चिद्ब्रह्मेत्युदाहृता ।
कैश्चित्प्रकृतिपुंभावविवेक इति भाविता ॥ ७१ ॥
अन्यैरप्यन्यथा नानाभेदैरात्मविकल्पितैः ।
नित्यमव्यपदेश्याऽपि कथञ्चिदुपदिश्यते ॥ ७२ ॥
सप्तैता भूमिकाः प्रोक्ता मया तव रघूद्वह ! ।
आसामभ्यासयोगेन न दुःखमनुभूयते ॥ ७३ ॥
अस्त्यत्यन्तमदोन्मत्ता मृदुमन्थरचारिणी ।
करिणी विग्रहव्यग्रा महादशनशंसिनी ॥ ७४ ॥

रूप से कुछ भी सम्पन्न नहीं रहता है। छठी भूमिका में स्थित होकर वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है ॥ ६९ ॥

सातवीं योगभूमिका विदेहमुक्तता कही गई है। वह शान्तस्वरूप, वाणी से अगम्य और संसार की भूमियों की सीमा है अर्थात् वह योगियों के मानस अनुभव से ही एकमात्र गम्य है। जीवित ज्ञानी पुरुष के लिए यदि सातवीं भूमिका ही नहीं है, तो फिर यह योगियों के मानस अनुभव से गम्य कैसे होगी, ऐसा किसी को भ्रम न करना चाहिए, क्योंकि 'सा सीमा भवभूमिषु' इत्यादि से उसमें संसार की भूमियों की सीमारूपता जो बतलाई गई है, उससे विरोध होने लगेगा तथा 'आसामभ्यास-योगेन' इत्यादि से उत्तरोत्तर भूमिकाओं के अभ्यास का जो निर्देश किया गया है, उससे भी विरोध होने लगेगा ॥ ७० ॥

कोई अर्थात् शैव उसे शिव कहते हैं, कोई अर्थात् वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्य, योगी उसे प्रकृति से पुरुष का विवेक कहते हैं। इस तरह भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पित रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेश योग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया जाता है ॥ ७१, ७२ ॥

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! ये सातों भूमिकाएँ मैंने आप से कह दीं। इनके अभ्यास के योग से मनुष्य दुःख का अनुभव नहीं करता है ॥ ७३ ॥

धीरे-धीरे खूब झूम-झूमकर चलने वाली, अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करने में सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतों से प्रख्याति को प्राप्त कर अत्यन्त अनर्थ को पैदा

सा चेन्निहन्यते नूनमनन्तानर्थकारिणी ।
तदेतासु समग्रासु भूमिकासु नरो जयी ॥ ७५ ॥
करिणी मदमत्ता सा यावन्न विजितौजसा ।
को नाम सुभटस्तावत्संपत्समरभूमिषु ॥ ७६ ॥

श्रीराम उवाच

काऽसौ प्रमत्ता करिणी काश्च ता रणभूमयः ।
कथं निहन्यते चैषा क्व चैषा रमते चिरम् ॥ ७७ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामेच्छा नाम करिणी इदं मेऽस्त्विति रूपिणी ।
शरीरकानने मत्ता विविधोल्लासकारिणी ॥ ७८ ॥
मत्तेन्द्रियोग्रकलभा रसनाकलभाषिणी ।
मनोगहनसंलीना कर्मदन्तद्वयान्विता ॥ ७९ ॥
मदोऽस्या वासनाव्यूहः सर्वतः प्रसरद्वपुः ।

करने वाली एक हथिनी है। यदि वह किसी तरह मार दी जाती है, तो इन समस्त भूमिकाओं में मनुष्य विजयी बन सकता है ॥ ७४, ७५ ॥

वह मदोन्मत्त हथिनी जबतक पराक्रम से जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा वीर है, जो उससे आक्रान्त क्षुद्र सांसारिक सम्पत्तिरूपी समरभूमियों में प्रवेश करने के लिए समर्थ हो सकता है ॥ ७६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—वह कौन प्रमत्त हथिनी है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, कैसे यह मारी जाती है तथा कहाँ यह चिरकालतक रमण करती है ॥ ७७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामजी ! मुझे यह प्राप्त हो जाय, ऐसी इच्छा का नाम हथिनी है, वह शरीररूपी जङ्गल में रहती है और मत्त होकर अनेक तरह के शोक, मोह आदि उल्लासों को पैदा करने में तत्पर रहती है ॥ ७८ ॥

मतवाले इन्द्रियों के समूह ही उसके उग्रप्रकृति के बच्चे हैं, वह जीभ से मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्णरूपी दो दाँतों से युक्त वह मनरूपी गहन स्थान में लीन रहती है ॥ ७९ ॥

हे श्रीरामजी ! तारों ओर दूरतक फैल रहे शरीर से युक्त वासनाओं का समूह ही इस हथिनी का मद है और संसारदृष्टियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं ॥ ८० ॥

यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजय का अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी कृपण प्राणिसमूहों

संसारदृष्टयो राम ! तस्याः समरभूमयः ॥ ८० ॥
भूयो यत्राऽनुभवति नरो जयपराजयौ ।
इच्छानागी निहन्त्येषा कृपणान् जीवसञ्चयान् ॥ ८१ ॥
वासनेहा मनश्चित्तं संकल्पो भावनं स्पृहा ।
इत्यादिनिवहो नाम्नामस्यास्त्वाशयकोशगः ॥ ८२ ॥
धैर्यनाम्ना वरास्त्रेण प्रसृतामवहेलया ।
नागीं सर्वात्मिकामेतामिच्छां सर्वात्मना जयेत् ॥ ८३ ॥
यावद्वस्त्विदमित्येवमियमन्तर्विजृम्भते ।
तावदुग्रा कुसंसारमहाविषविषूचिका ॥ ८४ ॥
एतावानेव संसार इदमस्त्विति यन्मनः ।
अस्य तूपशमो मोक्ष इत्येवं ज्ञानसङ्ग्रहः ॥ ८५ ॥
प्रसादकारिणी स्वच्छा निरिच्छे विमलाकृतौ ।
तैलबिन्दुरिवाऽऽदर्शे विश्राम्यत्युपदेशवाक् ॥ ८६ ॥

को मारती है ॥ ८१ ॥

वासना, अभिलाषा, मन, चित्त, सङ्कल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नामों का समूह चित्तरूपी कोश के अन्दर रहता है ॥ ८२ ॥

अन्य सभी अस्त्रों का तिरस्कार कर धैर्यनामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्र से बहुत दूरतक फैली हुई तथा सम्पूर्ण विषयों के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त इस इच्छारूपी हथिनी को सब तरह से जीत लेना चाहिए ॥ ८३ ॥

'यह वस्तु मुझे इस रूप में प्राप्त हो जाय' जबतक यह इच्छा अन्तःकरण ने भीतर विकसित रहती है तभी तक यह महाभयङ्कर कुत्सित संसाररूपी महाविष से उत्पन्न महामारी बनी रहती है ॥ ८४ ॥

'यह मुझे मिल जाय' यह सङ्कल्प इतना ही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानोपदेश-संग्रह है ॥ ८५ ॥

[तृष्णारूपी संसार का नाश ही मोक्षभूमिका के उदय में हेतु होने से मोक्ष है।]

राग आदि पुरुषों के अपराध से म्लान मन में श्रुतियों के अनुकूल आचार्य आदि का उपदेश, कमल के पत्तों के ऊपर जल बिन्दु की तरह तनिक भी नहीं ठहरता है। वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न इच्छारहित विमल आकृतिवाले पुरुष में स्वयं निर्मल अतः दूसरे का चित्त प्रसन्न करने में कारणरूप गुरूपदेशवाक्य, दर्पण में तैल बिन्दु की तरह संक्रान्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

असंवेदनमात्रेण नोदेतीच्छाभवाऽङ्कुरः ।
मनागभ्युदितैवेच्छा छेत्तव्यानर्थकारिणी ।
असंवेदनशस्त्रेण विषस्येवाऽङ्कुरावली ॥ ८७ ॥
इच्छाविच्छुरितो जीवो विजहाति न दीनताम् ॥ ८८ ॥
स्वसंवेदनयत्नस्तु तूष्णीमेवाऽन्तरासनम् ।
अवधानविनिर्मुक्तं सुप्तं शवशतं यथा ॥ ८९ ॥
तां प्रत्याहारबडिशेनेच्छामत्सीं नियच्छत ॥ ९० ॥
इदं मेऽस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
अर्थस्याऽभावनं यत्तत्कल्पनात्याग उच्यते ॥ ९१ ॥
स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तत्र प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतं च भाव्यते ॥ ९२ ॥

एकमात्र विषयों की स्मृति का परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। विषवृक्ष के अङ्कुरों की पङ्क्ति-जैसी अनेक तरह का अनर्थ पैदा करनेवाली, इस इच्छा को तनिक भी बढ़ते ही विषयों के विस्मरणरूप शस्त्र से काट देना चाहिए, इच्छा से व्याप्त जीव अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि के लिए दीनता को कभी नहीं छोड़ सकता ॥ ८७-८८ ॥

सुन्दर असंवेदन में अर्थात् भली-भाँति विषयों का स्मरण न होने में श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने भीतर समस्त व्यापारों से निर्मुक्त होकर अवधानशून्य सोये हुए सैकड़ों मृतकों की तरह बैठा रहे ॥ ८९ ॥

हे श्रीरामजी ! अनर्थ पैदा करनेवाली उस इच्छारूप मछली को आप प्रत्याहाररूपी बंसी में फँसाकर बाँध रखिये ॥ ९० ॥

यह मुझे मिल जाय, इस तीव्र इच्छा को ही उत्तम पुरुष कल्पना कहते हैं और बाह्य पदार्थों का जो विस्मरण है, उसको कल्पना का त्याग कहते हैं ॥ ९१ ॥

हे श्रीरामजी ! सङ्कल्प को ही आप स्मरण समझें और विस्मरण को तो विद्वान् लोग शिवस्वरूप अमझते ही हैं। सङ्कल्प में पहले के अनुभूत पदार्थों की तथा अननुभूत पदार्थों की भावना की जाती है ॥ ९२ ॥

अनुभूत और अननुभूत सब तरह की स्मृति का शीघ्र ही विस्मरण कर काष्ठ के समान मूढ एवं महामति होकर स्थित रहें ॥ ९३ ॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है, उसकी भावना

अनुभूतां नानुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामतिः ॥ ९३ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति तत् ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ९४ ॥
किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम ! तृणायते ॥ ९५ ॥
गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दः स्वकर्मसु ॥ ९६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं परो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ ९७ ॥
सर्वमेवमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम् ।
पश्यन् भूतार्थचिद्रूपं शान्तमास्व यथासुखम् ॥ ९८ ॥

तुम लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते अर्थात् सभी प्राणियों को विषयसङ्कल्पों के त्याग के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, इसलिए उनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए, इस अपने समस्त उपदेश-रहस्य को अब परम कारुणिक महाराज वसिष्ठजी चिल्लाकर दृढ़ करने की अभिलाषा से कहते हैं ॥ ९४ ॥

हे श्रीरामजी ! यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्। इस श्रुति से कथित और लोक में भी प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन के व्यापारों को छोड़कर केवल चुपचाप बैठा हुआ पुरुष ही उस परम पद को प्राप्त करता है, भूमानन्दरूप परम पद में हिरण्यगर्भ तक का भी साम्राज्य तृण की तरह तुच्छ बन जाता है ॥ ९५ ॥

अपने गन्तव्य स्थान की ओर जाने के लिए अविच्छिन्न चित्तवृत्तिधारा से युक्त पथिक के पैर में जैसे बिना सङ्कल्प के ही स्पन्द प्रतिक्षण होते रहते हैं अर्थात् उस पथिक के पैर अपने अभीष्ट स्थान की ओर जाने के लिए बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही योगी के भी पूर्वजन्म में किये गये अभ्यासरूपी अदृष्ट के वश से ही अनिषिद्ध अपने कर्मों में स्पन्दन होता रहेगा ॥ ९६ ॥

हे श्रीरामजी ! इस विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है ? संक्षेप से मैं इतना ही कहता हूँ कि सङ्कल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उसका न रहना ही मोक्ष है ॥ ९७ ॥

इस तरह सम्पूर्ण संसार को अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा नित्य-सिद्ध परमार्थ चिद्रूप देखते हुए आप शान्त होकर सुखपूर्वक स्थित रहें ॥ ९८ ॥

अवेदनं विदुर्योगं शान्तमासीनमक्षयम् ।
योगस्थः कुरु कर्माणि निर्वासनोऽथ मा कुरु ॥ ॥ ९९ ॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भो ॥१००॥
शिवं सर्वगतं शान्तं बोधात्मकमजं शुभम् ।
तदेकभावनं राम ! सर्वत्याग इति स्मृतः ।
भावयञ्छश्वदन्तः स्वं कार्यं कर्म समाचार ॥१०१॥
अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं समाचार ॥१०२॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे परमार्थस्वरूप-वर्णनं नाम षड्विंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १६२ ॥

हे श्रीरामजी ! 'अहं' और 'मम' इस अध्यस्त सम्पूर्ण भेदों के विस्मरण को ही ब्रह्मज्ञानी जीव ब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं और वह योग शान्त, अक्षय और सुदृढ़रूप से स्थित है। आप इस योग में स्थित होकर सब कार्य करते रहें। यदि आप समाधि में तत्पर हो चुके हैं, तो फिर आप कर्म न करें ॥ ९९ ॥

विषयों के विस्मरण को ही स्वाभाविक चित्त का क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें तन्मय होकर जैसे हैं वैसे स्थित रहें ॥ १०० ॥

हे श्रीरामजी ! शिव, सर्वगत, शान्त, ज्ञानात्मक, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो एकत्व की भावना है अर्थात् यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्मस्वरूप है, यह जो परिपूर्ण भावना है यही सर्वत्याग कहा गया है। हे राघव ! आप निरन्तर अपने हृदय के अन्दर उसकी भावना करते हुए अपना कर्तव्य कर्म करते रहें अर्थात् चूडाला द्वारा दिखलाया गया सर्वत्याग भी सम्पूर्ण प्रपञ्चों की निवृत्तिरूप होने के कारण उक्त स्थितिरूप ही है ॥ १०१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, 'अहं', 'मम' यह मैं हूँ, यह मेरा है यह भावना कर रहा पुरुष दुःख से छुटकारा नहीं पाता तथा 'अहं' 'मम' यह भावना न कर रहा पुरुष मुक्त हो जाता है, अब आपको जो अच्छा लगे वही करें ॥ १०२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में परमार्थस्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का एक सौ छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २२६ ॥

१२७

भरद्वाज उवाच

इति वरमुनिनोक्तं ज्ञानसारं पुराणं
सकलमनुनिशम्य श्रीरघूणां कुलाग्र्यः ।
विमलमतिरपृच्छत्किञ्चिदन्यत्स्वयं वा
समसुखपरिपूर्णः पूर्णबोधस्थितोऽसौ ॥ १ ॥

स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः ।
सकलगुणनिधानं सन्निधानं रमाया-
स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः ॥ २ ॥

११७

[श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीरामजी के परस्पर संवाद से वाल्मीकि मुनि रामजी की विश्रान्ति का स्मरण उसे कर स्वयं आप भी पूर्णानन्द आत्मा में विश्रान्त हो उस समय बिलकुल चुपचाप हो गये थे। इस प्रकार की अपने गुरु की स्थिति देखकर भरद्वाज, परमानन्द में अपनी स्थिति न पाकर, आगे और कुछ सुनने की इच्छा से पूछते हैं।]

भरद्वाज ने कहा—हे गुरो ! रघुकुल में सर्वश्रेष्ठ, विशुद्धमति श्रीरामभद्र ने अपने गुरु महाराज वसिष्ठजी के द्वारा अनेक प्रकारों से उपदिष्ट इस अतिप्राचीन अर्थात् आदिम ब्रह्मा से लेकर महर्षियों के सम्प्रदाय में चले आ रहें ज्ञानरूपी सार का श्रवणकर क्या और भी कुछ जिज्ञासु होकर पूछा था। वे उतने ही उपदेश से सम्पूर्ण सन्देहों से रहित एवं तारतम्यशून्य प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मसुख से परिपूर्ण होकर पूर्णज्ञानरूप आत्मा बनकर स्थित हो गये, यह मुझ से कहें ॥ १ ॥

असल में श्रीरामभद्र तो महान् योगी, सब के वन्द्य, देवों के स्वामी, जन्म-मरण से रहित, विशुद्धज्ञानमय, समस्त गुणों की ज्ञानमय; समस्त गुणों की खान, समस्त ऐश्वर्यों के आधार तथा तीनों लोकों के उत्पादन, रक्षण एवं अनुग्रह आदि में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे। वे केवल लोगों पर अनुग्रह के लिए ज्ञानशास्त्र की प्रवृत्ति करने के

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा वसिष्ठस्य वाक्यं वेदान्तसङ्ग्रहम् ।
विदिताखिलविज्ञानो रामः कमललोचनः ॥ ३ ॥

शक्तिपातवशोन्मेषप्रकटामलचिद्घनः ।
मुहूर्तमासीदुद्बुद्धश्चैतन्यानन्दसागरः ॥ ४ ॥

प्रश्नोत्तरविभागादिपरिपाटीविवर्जितः ।
आनन्दामृतपूर्णाग्रू रोमकण्टकिताङ्गकः ॥ ५ ॥

महासामान्यरूपत्वाच्चिद्व्यापकतया स्थितः ।
नित्यमष्टगुणैश्वर्यतृणप्रायमनोरथः ।
न किञ्चिदूचे सम्पन्नः शिवे परिणतः पदे ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अहो खलु ममाश्चर्यं रामः प्राप्तो महत्पदम् ।
कथमेतादृशी प्राप्तिरस्माकं मुनिनायक ! ॥ ७ ॥

मूर्खाः स्तब्धाश्च किञ्चिज्ज्ञा मादृशाः क्व च पापिनः ।
क्व च ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्या दुर्लभा रामसंस्थितिः ॥ ८ ॥

अहो मुनीश्वरगुरो ! कथं विश्राम्यते मया ।
दुष्पारस्य भवाम्भोधेस्तीर्यते तद्वदाऽऽशु मे ॥ ९ ॥

उद्देश्य से स्वेच्छा से ही अपने अज्ञान की कल्पना कर श्रवणार्थ प्रवृत्त हुए, मैं तो आरम्भ से अज्ञानी हूँ, मुमुक्षु हूँ और मेरे पास साधनों की भी कमी है, अतः हम दोनों में महान् अन्तर है, अर्थात् जितना उपदेश रामजी ने सुना उतना तुमने भी तो सुना, यदि तुम्हें सन्देह की निवृत्ति हुई है, तो उन्हें भी सन्देह की निवृत्ति हो गई । यदि नहीं हुई है तो उन्हें भी नहीं हुई, तुम स्वयं ही क्यों नहीं जान लेते, भरद्वाज जी अपने में और श्रीरामभद्र में महान् अन्तर बतलाते हैं । संस्कृत व्याख्या के अनुसार 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् के महावाक्यों से उत्पन्न जो अखण्ड आकारवाली चित्त की वृत्ति है, उसमें नित्यनिरतिशय आनन्दरूप आत्मतत्त्व का आविर्भाव ही यहाँ 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए । अथवा योगशास्त्र में वर्णित—सुषुम्ना के मार्ग में षट्चक्रों का भेदन कर कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश होकर जो शिवशक्ति का संयोग होता है, यही संयोग 'शक्तिपात' शब्द का अर्थ समझना चाहिए । मन्त्र शास्त्र में शक्तिपात शब्द का अर्थ वर्णित है—गुरुजी की शिष्य के ऊपर जब अत्यन्त दया हो जाती है, तब वे अपनी देह छोड़कर शिष्य की देह में प्रवेश कर जाते हैं, अनन्तर शिष्य-देह की प्रत्येक नाडी का शोधन कर उसकी कुण्डलिनी में सप्तचक्रों में संचारण द्वारा समस्त भुवनों का वृतान्त प्रत्यक्ष दिखलाते हैं, यह दिखलाना ही शक्तिपात है । परन्तु इस मन्त्रशास्त्र वर्णित अर्थ का यहाँ ग्रहण करना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि श्रीरामभद्र स्वयं ही ईश्वर हैं, अतः उनमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म स्वतःसिद्ध हैं, इसलिए इन धर्मों की श्रीरामभद्र को न तो कोई आवश्यकता है और न उससे लोकोपकार की सिद्धि ही है ॥ २ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—भरद्वाज, समस्त वेदान्तशास्त्र का जिसमें सङ्ग्रह भरा था, ऐसे वसिष्ठ मुनि के पूर्वोक्त वचनों का श्रवण कर कमललोचन तथा अखिल विज्ञानों के ज्ञाता श्रीरामभद्र मुहूर्त पर्यन्त अपने आत्मस्वरूप में चैतन्य और विकसित हो उठे । शक्तिपात के प्रभाव से उनके अविद्या के पुट खुल गये और उसका निर्मल चैतन्य प्रकाशित हो उठा । उस समय वे अपने आप प्रकाशित हो रहे आत्मानन्द से पूर्ण हो गये थे ॥ ३–४ ॥

उस समय प्रश्न, उत्तर और विभाग उक्त एवं अनुक्त अंश का विवेचन आदि करने की जो पद्धति होती है, इससे विरत हो गये थे । उनका चित्त आनन्दरूप अमृत से पूर्ण हो गया था । उनके अङ्ग रोमाञ्चित हो गये थे ॥ ५ ॥

वे सर्वाधिष्ठान चैतन्य रूप हो गये थे, इससे वे चारों ओर से परिपूर्ण होकर विराजमान थे । अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति करने की इच्छाएँ उनमें तृण के तुल्य हो गई थीं । उन्होंने उस समय वसिष्ठजी से कुछ भी नहीं कहा । वे शिवपद में परिणत हो गये थे ॥ ६ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे मुनियों के नायक, अहो, मैं आश्चर्यचकित हूँ कि श्रीरामभद्र तो, महान् आत्मपद प्राप्त कर चुके, परन्तु हम लोगों को उस तरह के आत्मपद की प्राप्ति कैसे होगी । अर्थात् इस प्रकार उत्तम अधिकारी श्रीरामचन्द्रजी को ज्ञान की प्राप्ति हुई, यह वर्णन कर अब मन्द, मध्यम अधिकारियों को चित्तशुद्धि के लिए विशिष्ट उपासना और मनन के उपायभूत तीन अवस्थाओं के विवेक एवं दृश्य प्रपञ्च के विवेक आदि कहने के लिए उनका उपक्रम करने में हेतु भरद्वाज की उत्कण्ठा आदि का वाल्मीकि जी वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

मेरे जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ, पापी और ब्रह्मा आदि द्वारा चाही जा रही दुर्लभ रामजी की स्थिति कहाँ ? दोनों में बहुत अन्तर है ॥ ८ ॥

हे बड़े-बड़े मुनियों के गुरो ! अहो, मैं किस तरह

वाल्मीकिरुवाच

श्रीरामवृत्तान्तमशेषमादितो
वसिष्ठवाक्यानुगतं निरूपितम् ।
धिया विचार्याऽनु परामृश प्रभो !
मयाऽपि तादृक्कथनीयमत्र ते ॥ १० ॥
अविद्यायाः प्रपञ्चोऽयं नास्ति सत्यमिहाण्वपि ।
विवेचयन्ति विबुधा विवदन्त्यविवेकिनः ॥ ११ ॥
नास्ति भिन्नं चितः किञ्चित्किं प्रपञ्चेन रुध्यसे ।
अभ्यासेन रहस्यानां वयस्य विशदो भव ॥ १२ ॥
प्रपञ्चविषयावृत्तिर्जाग्रन्निद्रेति कीर्तिता ।
सम्प्रबुद्धस्तु यस्याऽन्तश्चित्प्रदीपो निरञ्जनः ॥ १३ ॥
शून्यमूलः प्रपञ्चोऽयं शून्यताशिखरः सखे ! ।

आत्मपद में विश्रान्ति पा सकूँगा और इस दुस्तर संसार-रूपी महासागर के मोहरूपी जल से किस तरह पार हो सकूँगा, यह शीघ्र मुझसे कहें ॥ ९ ॥

वाल्मीकि जी ने कहा—हे शिष्य ! आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण रामवृत्तान्त, जो वसिष्ठजी के वाक्यों में था, उसको मैने तुमसे कहा । तुम अपनी बुद्धि से पहले विचार कर पीछे उसका अनुसन्धान करो । मैं भी इस प्रसङ्ग में तुमसे—तुम्हारे अनुभव में उपयोगी जो तीन अवस्थाओं के विवेचन आदि वक्तव्य हैं, उन्हें—कहता हूँ, सुनो ॥ १० ॥

यहाँ यह अविद्या का प्रपञ्च तनिक भी सत्य नहीं है अर्थात् समस्त संसाररूप प्रपञ्च एकदम मिथ्या ही है । उसमें अधिष्ठानभूत तत्त्व, अलग कर पण्डित लोग निकाल लेते हैं और अपण्डित लोग उस मिथ्या संसार को लेकर परस्पर कलह करते हैं अर्थात् यह सारा प्रपञ्च मिथ्याभूत अविद्या से उत्पन्न हुआ है, इसलिए प्रपञ्च झूठा है और आखिर में चैतन्यरूप अद्वैत तत्त्व का ही राज रहता है, यह बुद्धिमान् मनुष्य अनायास जान सकता है, ॥ ११ ॥

हे प्रियमित्र! वस्तुतः चैतन्य वस्तु से कुछ भी अलग नहीं है, अतः मिथ्या प्रपञ्च से किसका अवरोध किया जा सकता है । प्रणव, महावाक्य आदि की रहस्य तुमसे आगे जाकर प्रकट करने वाला हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को विशुद्ध बना डालो ॥ १२ ॥

प्रपञ्च को ग्रहण करने वाला जागरित व्यापार को निद्रा ही कहते हैं और जिसके भीतर चैतन्य दीपक प्रकाशित रहता है, उसे निरञ्जन साक्षी कहते हैं ॥ १३ ॥

सारशून्यतया मध्येऽप्यनास्था सन्मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
अनादिवासनादोषादसन्नेवाऽयमीक्ष्यते ।
गन्धर्वनगराकारः संसारो बहुविभ्रमः ॥ १५ ॥
त्वमनभ्यस्य कल्याणीं चैतन्यामृतकन्दलीम् ।
संमुह्यसि किमध्यास्य वासनाविषवीरुधः ॥ १६ ॥
जाग्रदेतन्न पतितं ज्ञानालम्बसंविदः ।
न सन्त्युपरि सर्वेषां ये निरालम्बसंविदः ॥ १७ ॥
तावद्रूढा सुधाकाररसा संविन्महानदी ।
न यावदात्मरूपेण निपुणैरवगाह्यते ॥ १८ ॥
प्राङ्नास्ति चरमे नास्ति वस्तु सर्वमिदं सखे ! ।
विद्धि मध्येऽपि तन्नास्ति स्वप्नवृत्तमिदं जगत् ॥ १९ ॥

हे मित्र ! इस प्रपञ्च का मूल कारण झूठा अज्ञान ही है और अन्त भी झूठा अज्ञान ही है । मध्यकाल में भी विचारने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीति ही रहती है, अतः उत्तम विद्वान् इसमें किसी तरह की आस्था नहीं करते ॥ १४ ॥

अनादि वासना के दोष से असत् यह संसार दिखलाई देता है; उसका गन्धर्व-नगर के सदृश मिथ्यास्वरूप है । यह अनेकविध भ्रमों से भरा पड़ा है जो वस्तु असत् रहती है, वह भी अनादि वासनायुत अविद्या से, गन्धर्व-नगर के सदृश, दिखलाई पड़ती है ॥ १५ ॥

तुम चैतन्यरूप अमृतकन्दली का अभ्यास न कर वासनारूपी विषवल्ली का आश्रयण कर क्यों व्यर्थ मोह में फँसे हो ॥ १६ ॥

जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि पहले चित्तकी स्थिरता के हेतु ज्ञानरूपी आलम्बन का आश्रयण करने के पहले यह जाग्रत् जगत् था ही नहीं और ऊपर की चतुर्थ अवस्था में भी जाग्रत् आदि कुछ नहीं है । यह विषय उन सभी योगियों के अनुभव से सिद्ध है, जो सर्वस्वतन्त्र आत्मज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥ १७ ॥

सुधास्वरूप रस से परिपूर्ण चितिरूपी महानदी जग-त्तरङ्गों से युक्त रहती है, जबतक उसमें आत्मरूप से प्रवेश नहीं किया जाता अर्थात् मुख्य आत्मज्ञान नहीं होता अर्थात् जबतक अज्ञान रहता है, तभीतक चितिरूपी नदी में जगत्-रूपी तरङ्गों का उद्भव होता रहता है ॥ १८ ॥

हे सखे ! समस्त यह जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है । इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं । इस जगत् का सारा वृत्तान्त

अविद्यायोनयो भेदाः सर्वेऽमी बुद्‌बुदा इव ।
क्षणमुद्‌भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥ २० ॥
सुशीतलोदकनदीं विदित्वाऽथ विगाह्यताम् ।
बहिर्भ्रान्तिनिदाघास्ते निर्यान्तु कलितासुखम् ॥ २१ ॥
एकश्चाऽज्ञानजलधिर्जगदाप्लाव्य तिष्ठति ।
ज्येष्ठोऽयमहमित्यूर्मिरविद्यावातसम्भवः ॥ २२ ॥
चित्तस्खलनभेदाली रागाद्याश्च प्रकल्पिताः ।
ममतोत्कलितावर्तः स्वतः स्वैरं प्रवर्तते ॥ २३ ॥
रागद्वेषावतिग्राहौ गृहीतसमनन्तरः ।
ततश्चानर्थपातालप्रवेशः केन वार्यते ॥ २४ ॥
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ॥ २५ ॥
कस्तिष्ठति गतः को वा कस्य केन किमागतम् ।
किं नु मज्जसि मायायां पत मा त्वमतन्द्रितः ॥ २६ ॥
तत्त्वमेकं यदात्मेति जगदेतत्प्रचक्षते ।
ततोऽन्यः कस्तवाऽतीतो यस्तात ! विषयः शुचाम् ॥२७॥
बालान्प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत् ।
अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा ॥ २८ ॥
अविविक्तो जनः शोचत्यकस्माच्च प्रहृष्यति ।
तत्त्ववित्तु हसन्नास्ते तस्य मोहो विडम्बनम् ॥ २९ ॥
तच्च सूक्ष्ममिदं तत्त्वं तिरोहितमविद्यया ।
यथा स्थलेषु लोकानां जलेष्वात्मसु संशयः ॥ ३० ॥

ऐसा है, जैसा कि स्वप्न है अर्थात् जो वस्तु आदि और अन्तकाल में नहीं रहती, वह मध्य में भी नहीं रह सकती, क्योंकि जिसका जो स्वभाव होता है, वह किसी भी काल में बदल नहीं सकता। यह स्वप्नस्थल में सभी को ज्ञात है, इस तरह की अनुमान शैली प्रदर्शित किया है ॥ १९ ॥

अविद्या से उत्पन्न ये भेद, जल में बुल्लों की तरह, क्षण-क्षण में उत्पन्न होकर एकमात्र ज्ञानरूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

उत्तम शान्ति देनेवाली आत्मसंवितिरूपी नदी पहले जानकर फिर उसमें गोता लगाकर वे बाह्यभ्रान्तिरूप गर्मी के काल सुखपूर्वक निकल जाँय ॥ २१ ॥

अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित है। इस समुद्र में अनादि भ्रान्तिवासनारूप वायु से उत्पन्न हुआ सबसे बड़ा यह 'अहम्' नाम का तरङ्ग है ॥ २२ ॥

उन विषयों में चित्त के गिरने के जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे-छोटे तरङ्ग कल्पित किये गये हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, यह यथेष्ट जहाँ चाहता है, वहाँ प्रवृत्ति करने लग जाता है ॥ २३ ॥

इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरों से पहले तत्काल ही तुम पकड़ लिए जाते हो और अनन्तर अनर्थरूपी पाताल में तुम्हारा प्रवेश निश्चित हो जाता है, यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता ॥ २४ ॥

यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में ही क्यों नहीं डूबते। व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरङ्गों में क्यों डूबते हो ॥ २५ ॥

कौन स्थित है, किसके लिए कौन चला गया, किस हेतु से क्या फल मिला, इस तरह के शोक की हेतु माया-मोह में तुम क्यों गोते लगा रहे हो? मैं तुमसे कहता हूँ कि ऐसे मोह में विवेकी बनकर गोते मत लगाओ ॥ २६॥

'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि वेदान्तवाक्य जब यह कहते हैं कि जो कुछ यह जगत् है, वह सब आत्मरूप एक तत्त्व ही है, तब हे प्रिय, ऐसी कौन दूसरी वस्तु चली गई जो तुम्हारे नाना शोकों की विषय बन बैठी है ॥ २७ ॥

जिनको अज्ञान है, उन बालकों के प्रति तो ब्रह्मा का जगत् के रूप में विवर्त होता है, परन्तु जो पुण्यवान् पुरुष निरन्तर आनन्दरूप आत्मा में अपनी सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित रहने वालों के प्रति ब्रह्म का जगत् के रूप में विवर्त नहीं होता है ॥ २८ ॥

विवेकहीन पुरुष शोक करता है और अकस्मात् प्रसन्न भी होता है, परन्तु तत्त्वज्ञानी निरन्तर हँसता ही रहता है, उसमें जो किसी समय मोह दिखाई पड़ता है, वह केवल अज्ञानियों की चेष्टा का अनुकरण ही है ॥२९॥

प्रसिद्ध सूक्ष्म तत्त्व अज्ञानी लोगों के लिए अविद्या से ढका रहता है, इसलिए उन्हें जल में स्थल और स्थल में जल का जैसे संशय बना रहता है, वैसे ही कल्पित अनात्मा में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का संशय बना रहता है, अतः अज्ञानियों के लिये उक्त बात हो नहीं सकती अर्थात् यह बात अज्ञानियों में नहीं हो सकती, क्योंकि अविद्या से आक्रान्त अज्ञानियों को, जल में स्थल बुद्धि के सदृश, अनात्मा में आत्मबुद्धि रहती है ॥ ३० ॥

पृथिव्यादिमहाभूतपरमाणुमयं जगत् ।
स्थितं यदा तदापीह को गतो योऽनुशोच्यते ॥ ३१ ॥
असतः सम्भवो नास्ति नास्त्यभावः सतः सखे ! ।
आविर्भावतिरोभावा संस्थानानाममी परम् ॥ ३२ ॥
किन्त्वनेकपुरोत्साहा द्विषतामुपगच्छति ।
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ॥ ३३ ॥
दुरितानि समस्तानि पच्यन्तेऽद्यापि न ध्रुवम् ।
कृतमेवाऽस्य देवस्य पाशा विश्रवतां गताः ॥ ३४ ॥
साकारं भज तावत्त्वं यावत्सत्त्वं प्रसीदति ।

पृथ्वी आदि जितने महाभूत हैं, वे सब परमाणुमय हैं, यह मत यदि मान लिया जाय, तब भी यहाँ ऐसी कौन आत्मा नष्ट हो गई, जिसका शोक किया जाय, क्योंकि परमाणुवाद में भी देह आदि के अनात्मा होने के कारण उनके नाश से आत्मा का नाश तो नहीं होता है ॥ ३१ ॥

हे मित्र ! न तो असद्वस्तु की उत्पत्ति होती है और न सद्वस्तु का अभाव होता है, केवल माया द्वारा विरचित चित्र-विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं अर्थात् अपनी प्रिय वस्तु के नाश से प्राणी को शोक अवश्य होता है। यदि वह प्रिय वस्तु सद्रूप है, तब तो वह कभी नष्ट नहीं हो सकती और यदि असद्रूप है, तो वह कदापि स्थित नहीं रह सकती है, इस तरह दोनों प्रकारों से उस आत्म-वस्तु के नाश की किसी तरह भी सिद्धि न होने के कारण शोक का कोई हेतु है ही नहीं ॥ ३२ ॥

यदि देहादि रचनाविशेष मायिक है, तो फिर ऐन्द्र-जालिक द्वारा दिखाई गई माया की तरह इसे उदासीन और तटस्थ अवभासित होना चाहिए; शोक, मोह आदि दुःखों से पूर्ण हजारों अनर्थ उत्पन्न करने में इसके पास विशेष हेतु क्या है, इसका समाधान यह है ? यह तुम्हारी आशङ्का सत्य है; आधुनिक कोई हेतु इसके पास उपस्थित नहीं है, किन्तु पुण्य और पाप में प्रवृत्तिरूप अनेक पूर्व जन्मों का सञ्चित पुरुष प्रयत्न ही पुण्य-पापनामक विशेष हेतु इसके पास उपस्थित है। उसीसे वह मायिक देह आदि पुण्यादि-फल के भोग के लिए विष के समान मरण-मूर्च्छा आदि हजारों हेतुओं के स्वरूप में परिणत हो जाता है और सैकड़ों बार उपदेश देने पर भी अध्यात्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का अर्थ पाप के कारण इसके हृदय में स्थान नहीं कर पाता, इसलिए हे मित्र, उस पाप के विनाश के लिए अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के

निराकारे परे तत्त्वे ततः स्थितिरकृत्रिमा ॥ ३५ ॥
इमामुद्दामतमसो जित्वा सत्त्वबलाद्ध्रुवम् ।
यमस्याऽनुसराऽध्वानं विश्वस्तेनाऽन्तरात्मना ॥ ३६ ॥
समाधाय क्षणं पश्य प्रत्यगात्मानमात्मना ।
इयं विभातु सा व्यक्तं प्राग्बुद्धिरजनी तव ॥ ३७ ॥
कृतं पुरुषकारेण केवलेन च कर्मणा ।
महेशानुग्रहादेव प्राप्तव्यं प्राप्यते नरैः ॥ ३८ ॥
नाभिजात्यं न चारित्र्यं न नयो न च विक्रमः ।
बलवन्ति पुराणानि सखे ! कर्माणि केवलम् ॥ ३९ ॥

अर्धनारीश्वर आदि का वेष-धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की तुम उपासना करो ॥ ३३ ॥

अभीतक तुम्हारे समस्त पाप नष्ट नहीं हो गये हैं। प्राणियों द्वारा किये गये पुण्य-पापरूपी कर्म ही इस पशु-पति भगवान् के प्राणीरूपी पशुओं के बन्धन के लिए पाशरूप से विविध श्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हैं ॥ ३४ ॥

तुम साकार देव का तबतक भजन करो जबतक तुम्हारा चित्त विशुद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि उस भजन से विघ्नों द्वारा किसी तरह की बाधा न पहुँचाये जाने के कारण निराकार परमतत्त्व में तुम्हारी सहज स्थिति दृढ़ हो जायगी ॥ ३५ ॥

साकार महेश्वर की उपासना से प्राप्त विशुद्ध सत्त्व के बल से हजारों विविध व्यामोहों के द्वारा प्रचण्ड बने अज्ञान की इस व्यामोह-शक्ति को जीतकर गुरु और शास्त्रों के उपदेश में विश्वासयुक्त मन से इन्द्रियों के साथ-साथ मनोनिग्रहरूप योग के मार्ग का अनुसरण करो ॥ ३६ ॥

अनन्तर क्षणभर की समाधि लगाकर अपने से ही प्रत्यगात्मा का अवलोकन करो, ताकि उस प्रत्यगात्मा के दर्शन से तमोगुण से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात प्रभातरूप में परिणत हो जाय ॥ ३७ ॥

केवल पुरुष प्रयत्नरूप कर्मों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, भगवान् महेश्वर के एकमात्र अनुग्रह से ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

महेश्वर के अनुग्रह के बिना केवल कुलीनता, सदा-चारिता, नीति और पराक्रम आदि कुछ भी नहीं काम कर पाते, क्योंकि पूर्वजन्म के कर्म अधिक बलवान् होते हैं। पूर्वजन्मों के कर्मों के अनन्त तथा इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों के अल्प होने के कारण ईश्वर के अनुग्रह के बिना

अप्रतवर्यात्प्रतीकारात्किमेवमवसीदसि ।
न लुम्पति ललाटस्थामीश्वरोप्यक्षरावलीम् ॥ ४० ॥
क्व चिद्वक्ता क्व वैदग्ध्यं क्व चेयं मोहवल्लरी ।
अचिन्तनीया नियतिर्यदियं द्वन्द्वमाहिता ॥ ४१ ॥
हे भरद्वाज ! मोहं त्वं विवेकेन जहि स्फुटम् ।
असामान्यमिदानीं त्वं ज्ञानं प्राप्स्यस्यसंशयम् ॥ ४२ ॥
दूरमुत्सहते राजा महासत्त्वो महापदि ।
अल्पसत्त्वो जनः शोचत्यल्पेऽपि हि परिक्षते ॥ ४३ ॥

उनके ऊपर विजय नहीं पायी जा सकती, इसलिए ईश्वरानुग्रहरूपी सहायता हृदय में करके ही इस जन्म के पुरुष प्रयत्नों की प्रबलता पहले सिद्ध की गई है, उसे छोड़कर नहीं सिद्ध होती है ॥ ३९ ॥

ईश्वर की शरण में गये हुए तुम जैसे पुरुष के तर्कों से अगम्य तथा एकमात्र श्रुति से गम्य धर्मादिसहित ज्ञानरूप प्रतीकार से समूल सम्पूर्ण कर्मों के निरासोपाय से क्यों उद्विग्न हो रहे हो, क्योंकि उपासना द्वारा प्रसन्न किया गया ईश्वर भी ललाट के ऊपर लिखे गये अक्षरों को अपने हाथ से स्वयं नहीं मिटा सकता, किन्तु ज्ञानकृत मूलोच्छेदोपाय से ही मिटा सकता है ॥ ४० ॥

कहाँ तो वाणी और मन के अगम्य अखण्ड ब्रह्मात्मा चित्ति को बतलाने वाला गुरु, कहाँ उसके जानने की योग्यतारूप शिष्य का कौशल और कहाँ शम, दम आदि के क्रम से अपने सर्वनाश के लिए परिणत यह मोहरूप वल्लरी ? परन्तु जिसके प्रभाव से यह सारी सामग्री परस्पर एक दूसरे में मिल गई है, वह ईश्वर की इच्छा अचिन्तनीय है अर्थात् गुरु और शास्त्रों में शिष्य को बोध दिलाने की शक्ति, शिष्य में चित्त की शुद्धि से ऊहापोह में अधिक कुशलता के कारण समझने की शक्ति तथा रागादि मूल सहित उखड़ जाने की योग्यतारूप परिपाक आदि सब सामग्रियों का मिलना भी ईश्वर की इच्छारूप नियति के वश ही रहता है ॥ ४१ ॥

हे भरद्वाज ! तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्ट रूप से त्याग कर दो, फिर तो निःसन्देह तुम असाधारण ज्ञान को प्राप्त कर लोगे अर्थात् ऐसी सामग्री उपलब्ध होनेपर मोह को जीत लेने के लिए खूब उत्साह रखना ही युक्त है, बीच में आकर शोक करना ठीक नहीं ॥४२॥

महाशक्ति सम्पन्न राजा युद्ध आदि महाविपत्तियों में फँस जानेपर भी धन, भृत्य आदि सामग्रियों से सम्पन्न होने के कारण दूसरों के लिए अतर्कित भी पृथिवीपरि-

बोधः पुण्यपराधीनः प्रथते बहुजन्मभिः ।
अनुमीयेत धीरेषु जीवन्मुक्तेषु कार्यतः ॥ ४४ ॥
द्विषद्भूतेन येनैव कर्मणा बन्ध ईदृशः ।
सुहृद्भूतेन तेनैव मोक्षमाप्स्यसि पुत्रक ! ॥ ४५ ॥
सतां सत्कर्मसंवेगः पुराणं प्रणुदन्नयम् ।
वर्षौघ इव भूतानां दावानलमसेचयत् ॥ ४६ ॥
सखे ! संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४७ ॥

पालन, दुष्टनिग्रह, शिष्टपरिपालन आदि कार्य केवल आज्ञा से ही करने में समर्थ होता हैं, किन्तु अल्पशक्ति सम्पन्न पुरुष तो धनादिक्षतिरूप साधारण एक छोटी-सी आपत्ति आ जानेपर भी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर शोक करने लगता है, क्योंकि उसे पार करने में धैर्य आदि सामग्रीरूप हेतु उसके पास नहीं रहता अर्थात् किसी बड़े कार्य में सामग्रीहीन पुरुष को ही शोक करना उचित है, महाराजों की तरह सर्वसम्पन्न तुम्हें शोक करना तो ठीक नहीं ॥४३॥

भगवान् महेश्वर की दया से अनेक जन्मों के बाद आत्मज्ञान प्रकट होता है, यह आत्मज्ञान मुझे भी सामग्री रहनेपर अवश्य होगा, ऐसा प्रत्येक पुरुष को अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ जीवन्मुक्त धीर पुरुषों में अनेक जन्मों के संचित पुण्य से आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषों को दृष्टान्त बनकर पुण्य-सामग्री रहने पर मुझे बोध अवश्य ही हो जायगा, यह अनुमान करके सबसे पहले पुण्य कमाने में मनुष्य को प्रवृत्त होना चाहिए ॥ ४४ ॥

हे पुत्र ! विषयों में अनुराग होनेपर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस तरह का बन्धन प्राप्त हुआ है, विषयों में अनुराग न होनेपर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्म से तुम मोक्ष पा जाओगे ॥ ४५ ॥

रागादि दोषों से शून्य सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्वजन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को ऐसे शान्त कर देता है, जैसे वर्षा का समूह दावानल को शान्त कर देता है अर्थात् अधिक पुण्य के द्वारा पूर्वजन्म के पापों का नाश होनेपर शम, दम आदिरूप अमृत से शीतलता प्राप्त करने वाले पुरुषों को आधिदैविक आदि तीनों तरह के तापों की शान्ति हो जाती है ॥ ४६ ॥

हे सखे ! यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण मत करो, (अथवा 'संसारचक्रा-

तावदेतद्विकल्पोत्थमिदं यावद्बहिर्ग्रहः ।
प्रतिकूलोऽब्धिरुल्लोले केवलं निश्चले जले ॥ ४८ ॥
अयं किमन्धकरणस्त्वया शोकोऽवलम्ब्यते ।
निर्वाहयतु सैव त्वां प्रज्ञायष्टिरभङ्गुरा ॥ ४९ ॥
न जातु ते विगण्यन्ते गणनासु गरीयसाम् ।
ये तरङ्गैस्तृणानीव ह्रियन्ते हर्षशोकयोः ॥ ५० ॥
समारूढं दशादोलामहोरात्रमिदं जगत् ।
क्रीडयते षड्विधैः प्रेङ्खैः सखे ! किमिति खिद्यते ।५१॥
सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च ।
जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली ॥ ५२ ॥

वर्तभ्रमभ्रमम्' इस पाठ के अनुसार—संसारचक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते, तो) सब कर्मों को छोड़ श्रवण आदि उपायों से तुम केवल ब्रह्म में आसक्त हो जाओ ॥ ४७ ॥

हे सखे ! बाह्यविषयों में जब तक आसक्ति है अर्थात् ब्रह्म में जब तक आसक्ति नहीं है तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है। जल के तरङ्ग युक्त होनेपर ही समुद्र अपने तट की ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जल के निश्चल रहने पर तो वह केवल जलरूप ही दिखाई देता है ॥४८॥

विवेकज्ञानरूप दृष्टि को ढक देने वाले इस शोक का तुम अवलम्बन क्यों कर रहे हो ? हे मित्र, अभङ्गुर वह प्रज्ञारूपी यष्टि छड़ी ही इस तरह शोक से अन्धे बने हुए तुम्हारा तब तक निर्वाह करे जब तक कि तुम्हारी विवेकदृष्टि खुल नहीं जाती ॥ ४९ ॥

हर्ष और शोक के आत्मज्ञान के उत्साह के विनाशक तरङ्गों से, तृणों की तरह लोग इस संसारसागर में बहने वाले महात्माओं की गणना में कभी नहीं गिने जाते हैं ॥ ५० ॥

हे सखे ! वह सारा जगत् हर्ष, विषाद आदि अवस्थारूप झूलेपर निरन्तर आरूढ है। इसे छ ऋतुरूप या काम, क्रोध आदि रूप छः झूलों से झुलाकर काल क्रीडा करता है, अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो अर्थात् खेलवाड़ करने के लिए कल्पित पदार्थों के संयोग और वियोग में खेद करना युक्त नहीं है ॥ ५१ ॥

इस तरह की नानाविध क्रीड़ाओं में उत्कण्ठा रखने वाला एकमात्र काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक जगतों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता

न विशेषग्रहः कश्चिन्न च कश्चिन्न कश्चन ।
जन्तुष्वभ्यवहार्येषु प्राक्रम्य कालभोगिनः ॥ ५३ ॥
का कथा मर्त्यपिण्डानां निमेषान्तरवासिनाम् ।
अपि देवनिकाया ये तेऽपि दुष्कालगोचराः ॥ ५४ ॥
स्वयं नृत्यसि किं प्रीतो विपत्तौ विकलेन्द्रियः ।
क्षणं निश्चलमासीनः पश्य संसारनाटकम् ॥ ५५ ॥
अस्याऽनेकतरङ्गस्य जगतः क्षणभङ्गिनः ।
न विषीदति मनस्वी भरद्वाज ! मनागपि ॥ ५६ ॥
त्यज शोकममङ्गल्यं मङ्गलानि विचिन्तय ।
चिदानन्दघनं स्वच्छमात्मानं च विभावय ॥ ५७ ॥

है ॥ ५२ ॥

केवल कालरूप सर्प द्वारा बलपूर्वक आक्रमण कर भक्षित किये जाने वाले वस्तुओं को बीच में वास्तव में न कोई विशेष ज्ञान है, न कोई ऐसे ज्ञान का विशेषरूप धर्म है और न कोई ऐसे धर्म का आश्रय ही है। अपने शरीर आदि का भी काल वैसे ही भोजन कर डालता है। अर्थात् जैसे दूसरे प्राणियों के शरीर आदि का काल भोजन कर डालता है। इस नियम को मानकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि जो जिसका खाद्य है, उसे वह अवश्य ही खा डालेगा। अब इस तरह का निश्चय हो जाता है, तब शरीर आदि में से अहन्ताभिमान का भी परित्याग हो जाता है और अनन्तर शोक का प्रसङ्ग ही नहीं आता ॥ ५३ ॥

देवयोनि भी दुष्ट काल के पिण्ड से छुटे हुए नहीं हैं। देवताओं को भी जब दुष्ट काल पचा जाता है, तब निमेष पर्यन्त रहने वाले विनाशी शरीरों की तो कथा ही क्या ॥ ५४ ॥

धननाश आदि विपत्तियों में विकृत इन्द्रियों से युक्त हो प्रेमपूर्वक क्यों स्वयं ही नृत्य करने लग जाते हो, क्षरभर चुपचाप बैठकर संसार नाटक तो देखो। अर्थात् वास्तव में तुम सक्षीरूप ही हो, इसलिए तुम्हें दूसरे से केवल संसार नृत्य का कौतुक ही देखना चाहिए, न कि शोक, मोह आदि विकारों से विकृत होकर स्वयं नृत्य करना चाहिए ॥ ५५ ॥

हे भरद्वाज ! अनेक तरङ्गों से युक्त इस जगत् को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञानी पुरुष कुछ भी शोक नहीं करता ॥ ५६ ॥

अमङ्गल देनेवाले शोक को छोड़ दो, मङ्गलमय वस्तुओं का विचार करो और चिदानन्दघन स्वच्छ परमात्मा की भावना करो ॥ ५७ ॥

देवद्विजगुरुश्रद्धाभरबन्धुरचेतसाम् ।
सदागमप्रमाणानां महेशानुग्रहो भवेत् ॥ ५८ ॥

भरद्वाज उवाच

ज्ञातं तव प्रसादेन सर्वमेतदशेषतः ।
न वैराग्यात्परो बन्धुर्न संसारात्परो रिपुः ॥ ५९ ॥

इदानीं श्रोतुमिच्छामि वसिष्ठेनोपपादितम् ।
ज्ञानसारमशेषेण ग्रन्थेनोक्तं पदात्मना ॥ ६० ॥

वाल्मीकिरुवाच

भरद्वाज ! श्रृणुष्वेदं महाज्ञानं विमुक्तिदम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जसि ॥ ६१ ॥

संहृतिस्थितिसंभूतिभेदैर्योऽनेकधा स्थितः ।
एकोऽपि सन्नमस्तस्मै सच्चिदानन्दमूर्तये ॥ ६२ ॥

कृते प्रपञ्चविलये यथा तत्त्वं प्रकाशते ।
तवोपायं प्रवक्ष्यामि सङ्क्षेपाच्छ्रुतिशासनात् ॥ ६३ ॥

पूर्वापरविचारार्हा कथं नष्टा तव स्मृतिः ।
तयैव ज्ञायते सर्वं करामलकवत्स्वयम् ॥ ६४ ॥

स्वयं विचार्य स्वयमेव चेतसा
तत्प्राप्यते येन न शोचते पुनः ।
सत्सङ्गसच्छास्त्रविवेकतः पुन-
र्वैराग्ययुक्तेन विभाव्यमेतत् ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे भरद्वाजानुशासनं नाम सप्तविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२७ ॥

जो पुरुष देव, द्विज और गुरुजनों के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रों में प्रामाण्यबुद्धि रखते हैं ऐसे पुरुषों के ऊपर महेश्वर का परम अनुग्रह होता है अर्थात् देव, द्विज आदि के ऊपर श्रद्धा आदि रखने से ईश्वरानुग्रहरूप परम मङ्गल के साधन होने से मङ्गलरूप हैं और ईश्वरानुग्रह साक्षात् ज्ञान का साधन होने से उनसे भी बढ़कर मङ्गलरूप है ॥ ५८ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैंने पूर्णरूप से सब साधनों का रहस्य जान लिया कि वैराग्य से बढ़कर दूसरा इस संसार में उद्धार करनेवाला बन्धु नहीं है और संसार से बढ़कर दूसरा मारने वाला कोई शत्रु नहीं है ॥ ५९ ॥

अब मैं अनेक वाक्यरूप समस्त ग्रन्थ से महाराज वसिष्ठजी द्वारा कहे गये ज्ञानरूपी रहस्य का सम्पूर्ण सारांश थोड़े शब्दों में सुनना चाहता हूँ, कृपाकर कहें ॥ ६० ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! मुक्ति देनेवाले इस महाज्ञान को तुम सुनो, इसके केवल सुनने से ही फिर संसाररूपी सागर में तुम गोते नहीं लगाओगे ॥ ६१ ॥

देव वास्तव में एक होता हुआ भी अध्यारोप द्वारा उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप कार्यों से अनेक प्रकार का होकर स्थित सच्चिदानन्दरूप परमात्मा को नमस्कार है। अर्थात् जगत् का लय करने में हेतुभूत अपवाद करने की इच्छा से अध्यारोप द्वारा अनेक प्रकार से स्थित एक ही मङ्गलरूप देव को नमस्कार करते हैं ॥ ६२ ॥

प्रपञ्च का लय करने पर जिस उपाय से परमतत्त्व प्रकाशित होता है उस उपाय को तुम्हें संक्षेप से श्रुतिकथित क्रम का अवलम्बन कर कहता हूँ ॥ ६३ ॥

हे भरद्वाज ! पूर्वापर ग्रन्थ के विचार में पटु तुम्हारी स्मृति कहाँ चली गई, उसीसे स्वयं ही सब कुछ हस्तामलकवत् जाना जा सकता है। अर्थात् अलग-अलग प्रकरणों में कहे गये तत्त्व को सूक्ष्मबुद्धिवाले पुरुष स्वयं ही पूर्वापर के विचार से जान सकते हैं, इस प्रकार समझने की तुम में सुबुद्धि विख्यात थी, परन्तु इस समय वह कैसे नष्ट हो गई, यों कहे जानेवाले अर्थ के ग्रहण में अवधानार्थ भरद्वाज को वाल्मीकि महाराज फटकार सुनाते हैं ॥६४॥

हे भरद्वाज ! पहले अपने अन्तःकरण से तत्त्व का स्वयं ही विचार करना चाहिए, इसीसे वह आत्मवस्तु स्वयं प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त होने से पुरुष फिर शोक नहीं करता। सत्संग और सत्-शास्त्र से प्राप्त विवेक से वैराग्य युक्त होकर पुरुष को इसी तत्त्व की बार-बार भावना करे ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में भरद्वाज अनुशासन नामक कुसुमलता का एक सौ सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२७ ॥

१२८

वाल्मीकिरुवाच

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धात्काम्यकर्मणः ।
विषयेन्द्रियसंश्लेषसुखाच्च श्रद्धयान्वितः ॥ १ ॥

मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः ।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति ॥ २ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये ।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः ॥ ३ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः ।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ॥ ४ ॥

विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्राऽऽत्मनि ततः परम् ।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ॥ ५ ॥

मांसादि पार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।
आप्यं रक्तादिकं चाऽऽप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ॥ ६ ॥

वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ।
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ॥ ७ ॥

दिक्षु न्यस्याऽऽत्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ।
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ॥ ८ ॥

प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ।
विष्णौ तथात्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ॥ ९ ॥

उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ।
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ॥ १० ॥

१२८

वाल्मीकिजी ने कहा—शम, दम, उपरति अर्थात् काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग से एवं विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख से विषयासक्ति से शून्य, श्रद्धा से युक्त कोमल असान पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत कर योगी ॐकार का उच्चारण करता हुआ तबतक दीर्घता से जप करता रहे जबतक मन प्रसन्न न हो जाय ॥ १–२ ॥

अनन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करे और उसके पीछे विषयों से इन्द्रियों को धीरे-धीरे खींच ले ॥ ३ ॥

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिस उपादान कारण से उत्पत्ति हुई है, उस उसको जानकर श्रुति आदि के द्वारा अनुसन्धान कर पीछे उनके उपादान कारणभूत उन भूतों और देवों में उन सबका लय कर दे ॥ ४ ॥

इस तरह आध्यात्मिक देह, इन्द्रिय आदि भाव को छोड़कर 'उनका कारणभूत देवतासमष्टिरूप अकारार्थ विराट् मैं ही हूँ' इस तरह की भावना से पहले विराट् में स्थित होकर; उसके बाद उसके कारणभूत उकारार्थ सूक्ष्मभूत लिङ्गसमष्ट्यात्मक हिरण्यगर्भ में उस विराट् का लय करके 'हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित रह जाय। अनन्तर उसके कारणभूत त्रिगुणात्मक माया से उपहित मकारार्थ अव्याकृत में उस हिरण्यगर्भ का भी लय करके 'अव्याकृतस्वरूप मैं ही हूँ' इस भावना से स्थित हो जाय। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जगत् के मूलकारणरूप से उपलक्षित अव्याकृतसहित सबके अधिष्ठानभूत अर्धमात्रा में लक्षित परमकारण शुद्ध ब्रह्म में उस अव्याकृत का भी लय कर आप स्थित हो जाय ॥ ५ ॥

मांस आदि पार्थिव भाग का पृथिवी में, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जल में तथा जो तैजस भाग है उनका तेज में, उनकी तन्मात्रारूपता जानकर लय कर दे ॥ ६ ॥

वायुभाग का महावायु में और आकाश भाग का आकाश में लय कर दे। इसी तरह घ्राण आदि इन्द्रियों का भी उनके आरम्भक देवतोपाधिभूत सूक्ष्म पृथिवी आदि में लय करके 'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्' इत्यादि श्रुतिसिद्ध जीव के भोग की प्रसिद्धि के लिए कर्ण आदि गोलकों में प्रवेश द्वारा श्रोत्र आदिरूप इन्द्रियभाव को प्राप्त दिशा आदि देवताओं का क्रमशः उन देवताओं में ही लय कर दे ॥ ७ ॥

अपने श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में और त्वगिन्द्रिय का विद्युत् में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में लय कर दे ॥ ८ ॥

प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। अपने पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा-इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे ॥ ९ ॥

उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय कर उसके बाद मन का चन्द्रमा में लय कर दे। इसी तरह बुद्धि का चतुर्मुख ब्रह्मा में लय कर दे। हे मित्र, इन्द्रियों के अधिष्ठान देवता ही सब स्थित हैं, इन्द्रियों के नाम से कोई दूसरी वस्तुएँ

इन्द्रियव्यपदेशेन व्यादिश्यन्ते च देवताः ।
श्रुतिवाक्यमनुस्मृत्य न स्वतः प्रकटीकृताः ॥ ११ ॥
एवं न्यस्याऽऽत्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत् ॥१२॥
ब्रह्माण्डान्तः स्थितो योऽसावर्धनारीश्वरः प्रभुः ।
आधारः सर्वभूतानां कारणं तदुदाहृतम् ॥ १३ ॥
स यज्ञसृष्टिरूपोऽसौ जगद्वृत्तौ व्यवस्थितः ।
द्विगुणाण्डाद्बहिः पृथ्वी पृथिव्या द्विगुणं जलम् ॥ १४ ॥
सलिलाद् द्विगुणं तेजस्तेजसो द्विगुणोऽनिलः ।
वायोर्द्विगुणमाकाशमूर्ध्वमेकैकशः क्रमात् ॥ १५ ॥

व्यस्तेन च समस्तेन व्यापिना ग्रथितं जगत् ।
क्षितिं चाऽप्सु समावेश्य सलिलं चाऽनले क्षिपेत् ॥१६॥
अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ १७ ॥
स्थित्वा तस्मिन् क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च ॥ १८ ॥
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोऽण्डाद्बहिर्यातस्तत्राऽऽत्मास्मीति चिन्तयेत् ॥१९॥
चतुर्मुखोऽग्रके चायं भूतसूक्ष्मव्यवस्थितः ।
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याऽव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥२०॥

स्थित नहीं है, उनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (वाणी बनकर अग्नि मुख में प्रविष्ट हो गई) इस श्रुतिवाक्य को प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। स्वतः अपने मन से किसी तरह की कोई कल्पना करके मैंने इन अर्थों को तुमसे प्रकट नहीं किया है ॥ १०, ११ ॥

इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे ॥ १२ ॥

['अव्याकृते स्थितः पश्चात्' (अव्याकृत में स्थित होकर उसके पीछे) इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में ब्रह्म-विद्या के उत्कृष्ट पुरुष को पहले उपास्यरूप से कही गई, सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा विराट् पुरुष के हृदयकमल के ऊपर सदा स्थित रहने वाली और ब्रह्मविद्या से घटित अर्ध शरीर से युक्त मायाशबल सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकारणरूप ब्रह्म को मुनि को दर्शा रहे महा-राज वाल्मीकि मुनि — वही सम्पूर्ण प्राणियों का माता-पिता के रूप से भी कारण है ।]

सारे ब्रह्माण्ड के भीतर जो यह अर्धनारीश्वर भगवान् स्थित है वही सम्पूर्ण भूतों का आधार तथा कारण कहा गया है ॥ १३ ॥

वह सबका पिता होने से ही अपने विरचित देव, मनुष्य आदिरूप समस्त जगत् को अन्न-पान आदि के द्वारा जीवित रखने के उपाय में व्यवस्थित होकर हविष् तथा वृष्टि आदि से सबके पोषक श्रौत-स्मार्त यज्ञों की सृष्टिरूप से ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है। इस ब्रह्माण्ड के घेरे से बाहर द्विगुण पृथिवी है और उस पृथिवी से द्विगुण जल है अर्थात् 'एभिरावरणैरण्डं व्याप्तं दशगुणोत्तरैः' इत्यादिरूप से ब्रह्माण्ड की अपेक्षा उत्तरोत्तर दसगुण अधिक पृथिवी आदि का आवरण यद्यपि पुराणों में सुना जाता है तथापि द्विगुण ही उसे भी समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर से घेर कर पांच कोश की प्रदक्षिणा करने पर जैसे पचीस कोश की प्रदक्षिणा हो जाती है वैसे ही एक के पचगुने को दो बार गुण देने से दसगुने की सिद्धि हो जाती है। अथवा पुराणों में जो आवरण कहा गया मिलता है वह अपञ्चीकृत भूतों का आवरण है, किन्तु यहाँ तो पञ्चीकृत भूतों के अभिप्राय से कहा गया है, यों किसी तरह का विरोध नहीं दीखता ॥ १४ ॥

जल से द्विगुण तेज है, तेज से द्विगुण वायु है और वायु से द्विगुण आकाश है। यों क्रमशः एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर द्विगुण हैं ॥ १५ ॥

पञ्चीकृत या अपञ्चीकृत आकाश से यह सारा जगत् ग्रथित है। योगी को चाहिए कि वह पृथिवी का जल में लय करके उस जल को फिर तेज में लीन कर दे ॥ १६ ॥

तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश को समस्त स्थूल प्रपञ्चों की उत्पत्ति के कारणभूत हिरण्यगर्भाकाश में विलीन कर दे ॥ १७ ॥

उस हिरण्यगर्भाकाश में एकमात्र लिङ्ग शरीर धारण कर योगी क्षणभर स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्म भूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबको पण्डित लोग लिङ्ग शरीर कहते हैं। तदनन्तर स्थूल उपाधि का लय हो जाने से अर्ध शरीर से सम्पन्न हुआ-सा वह योगी ब्रह्माण्डरूपता के अभिमान का त्याग करके उससे बाहर निकल कर सूक्ष्म भूतात्मक लिङ्ग-समष्टि देह में 'मैं ही आत्मरूप अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ हूँ' इस प्रकार चिन्तन करे ॥ ॥ १८–१९ ॥

सूक्ष्म भूतों में अभिमान करके बैठा हुआ यही—ब्रह्माण्ड-प्रविलापन के पहले ब्रह्माण्डगत ऐश्वर्यों का भोग

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ २१ ॥
अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ २२ ॥
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
आनुलोम्यात्स्मृता सृष्टिः प्रातिलोम्येन संहृतिः ।
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ।
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ २४ ॥

करने के लिए कमल से उत्पन्न अपने शरीर की कल्पना करके—चार मुख वाला था। अपञ्चीकृत भूतों की भी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म उपाधि रूप से अव्याकृत मायांश में तथा उपहित चिदाकार से अव्यक्त में लिङ्ग शरीर को भी विलीन कर बुद्धिमान् योगी स्थित रहे ॥ २० ॥

जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्याकृत और अव्यक्त नाम और रूपों से विनिर्मुक्त है। उसी को सांख्यवादी प्रकृति, वेदान्ती लोग माया तथा नैयायिक परमाणु कहते हैं ॥ २१ ॥

तर्क से विभ्रान्त चित्त वाले बौद्ध लोग उसे संवृति रूप अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृत में प्रलय काल में सभी पदार्थ लय को षष्ठ भाव विकार को प्राप्त होकर अनभिव्यक्त स्वरूप को धारण करते हुए उसकी सत्ता से ही अवस्थित रहते हैं ॥ २२ ॥

दूसरी सृष्टि नहीं होने तक परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा चिति की भोग्यता रूप आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत स्वरूप में ही स्थित रहते हैं और प्रलय के अनन्तर सृष्टि काल में फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृत से सब उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

अनुलोमक्रम से अर्थात् आकाशादि क्रम से सृष्टि होती है और प्रतिलोम क्रम से अर्थात् सृष्टि के विपरीत क्रम से उसी में सबका संहार होता है। इसलिए तीनों स्थान को विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्याकृत या स्थूल, सूक्ष्म और कारण अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को छोड़ कर अविनाशी तुरीय पद का ध्यान उसकी साक्षात् प्राप्ति न होने तक करे। ध्यान से दीप्त हुई साक्षात्कारात्मक वृत्ति से, ध्यान के कर्ता और कारणरूप लिङ्ग का भी प्रविलापन कर निरतिशय परब्रह्म में उस प्रकार प्रविष्ट हो जाय, जिस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश महाकाश में प्रविष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः ।
अज्ञानं च प्रतिष्ठाः स्युर्लिङ्गमव्याकृते सति ॥ २५ ॥

भरद्वाज उवाच

इदानीं लिङ्गनिगडान्मुक्तोऽहं सर्वथा यतः ।
चिदंशत्वात्प्रविष्टोऽहं चैतन्यानन्दसागरे ॥ २६ ॥
अभेदात्परमात्माऽस्मि सर्वोपाधिविवर्जितः ।
कूटस्थः केवलो व्यापी चिदचिच्छक्तिमानहम् ॥ २७ ॥
घटाभावे घटाकाशकलशाकाशयोर्यथा ।
तमाहुः श्रुतयो बह्व्य एवमेवैक्यमादरात् ॥ २८ ॥

[अर्थात् 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्' इस श्रुति द्वारा दिखाये गये मार्ग से छोड़ कर।]

शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान का आवरण होने पर अव्याकृत के अस्तित्व में सूक्ष्मभूत द्वारा लिङ्ग की उत्पत्ति होती है, किसी हालत में भी अज्ञान के बिना लिङ्ग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अज्ञान ही लिङ्ग का मूल आधार ठहरा। परम्परया स्थूल सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म और वायु भी उसके आधार हैं। ऐसी दशा में अज्ञान रूप मूल आधार की निवृत्ति हो जाने पर लिङ्ग रूपी निगड का भङ्ग सिद्ध ही हो जाता है अर्थात् 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि श्रुति में लिङ्ग का बाध दिखाई नहीं देता, इसलिए कैसे उसकी निवृत्ति होगी, यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तीनों स्थानों का बाध होने पर लिङ्ग का बाध अर्थतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि स्थूलसूक्ष्मभूत और इन्द्रिय आदि में ही लिङ्ग की स्थिति है ॥ २५ ॥

भरद्वाज ने कहा—मैं अब सभी तरह से लिङ्ग रूपी बेड़ी के बन्धन से निर्मुक्त हो गया हूँ और चैतन्य का अंश हूँ, इससे चैतन्य रूपी आनन्दसागर में प्रविष्ट हो गया हूँ ॥ २६ ॥

अंश और अंशवान् में अभेद होने के कारण मैं समस्त उपाधियों से शून्य परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध, व्यापक और चैतन्यरूप हूँ, चैतन्यशक्तिमान् नहीं हूँ ॥ २७ ॥

जैसे एक ही घट का घट और कलश यों भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है इसीसे घटयुक्त आकाश में घटाकाश और कलशाकाश इस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम कल्पित है और वैसे ही एक ही अज्ञान का भिन्न-भिन्न जगत् नाम कल्पित है। इसीसे जगद्-युक्त मुझ में जीव, ईश्वर आदि भिन्न-

यथाऽग्निरग्नौ सङ्क्षिप्तः समानत्वमनुव्रजेत् ।
तदाख्यस्तन्मयो भूत्वा गृह्यते न विशेषतः ॥ २९ ॥
यथा तृणादिकं क्षिप्तं रुमायां लवणं भवेत् ।
अचेतनं जगन्न्यस्तं चैतन्ये चेतनीभवेत् ॥ ३० ॥
यथा वै लवणग्रन्थिः समुद्रे सैन्धवो यथा ।
नामरूपादिनिर्मुक्तः प्रविश्यैति समुद्रताम् ॥ ३१ ॥
यथा जले जलं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविनष्टा भवन्त्येते गृह्यन्ते न विशेषतः ॥ ३२ ॥
तथाऽहं सर्वभावेन प्रविष्टश्चेतने सति ।
नित्यानन्दे समस्तज्ञे परे परमकारणे ॥ ३३ ॥
नित्यं सर्वगतं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
निष्कलं निष्क्रियं शुद्धं तद्ब्रह्माऽस्मि परं परम् ॥ ३४ ॥

भिन्न व्यवहारों की कल्पना की गई थी। जैसे व्यवहार में एक घट के ही नाश से घट और कलश दोनों की निवृत्ति हो जाने से घटाकाश, कलशाकाश, महाकाश आदि भेद मिट कर शुद्ध आकाशरूप ऐक्य बन जाता है, वैसे ही एकमात्र अज्ञान की ही निवृत्ति हो जाने से सब नामों का भेद मिटकर एकमात्र चैतन्य का साम्राज्य मुझे प्राप्त हो गया है। इसी तरह की एकता के उद्देश्य से ही ब्रह्मभूत हुए मेरे विषय में 'यत्र नान्यत्पश्यति, इत्यादि अनेक श्रुतियाँ बड़े आदर से कहती हैं ॥ २८ ॥

[अर्थात् 'यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् । अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्मा परमात्मनि ॥' जैसे जल में डाला गया जल, दूध में डाला दूध और घी में डाला गया घी एकरूप हो जाता है वैसे ही परमात्मा में जीव एकरूप हो जाता है।]

चेतन में फेंका गया लीन किया गया अचेतन यह जगत् भी वैसे ही चेतन ही हो जाता है जैसे अग्नि में छोड़ा गया अग्नि उसी की समानता को अर्थात् एकता को प्राप्त होता है और तद्रूप एवं उसी नाम का होकर ही ज्ञात होता है, किसी विशेषरूप से वह ज्ञात नहीं होता तथा जैसे लवणसागर में फेंका गया तृण आदि लवणरूप ही हो जाता है ॥ २९, ३० ॥

जैसे लवणसागर में फेंका गया लवण का ढेला या सिन्धु में फेंका गया सैंधव समुद्र में या सिन्धु में प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूप से विनिर्मुक्त हो समुद्ररूपता या सिन्धुरूपता को प्राप्त कर लेता है या जैसे जल में छोड़ा गया जल, दूध में छोड़ा गया दूध और घी में छोड़ा गया घी—ये सबके सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते

हेयोपादेयनिर्मुक्तं सत्यरूपं निरिन्द्रियम् ।
केवलं सत्यसङ्कल्पं शुद्धं ब्रह्माऽस्म्यहं परम् ॥ ३५ ॥
पुण्यपापविनिर्मुक्तं कारणं जगतः परम् ।
अद्वितीयं परं ज्योतिर्ब्रह्माऽस्म्यानन्दमव्ययम् ॥ ३६ ॥
एवमादिगुणैर्युक्तं सत्त्वादिगुणवर्जितम् ।
प्रविष्टं सकलं ब्रह्म सदा ध्यायेत्स्वकर्मकृत् ॥ ३७ ॥
एवमभ्यसतः पुंसो मनोऽस्तं याति तत्र वै ।
मनस्यस्तं गते तस्य स्वयमात्मा प्रकाशते ॥ ३८ ॥
प्रकाशे सर्वदुःखानां हानिः स्यात्सुखमात्मनि ।
स्वयमेवाऽऽत्मनात्मानमानन्दं प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥
न मत्तोऽस्त्यपरः कश्चिच्चिदानन्दमयः प्रभुः ।
अहमेकः परं ब्रह्म इत्यात्माऽन्तः प्रकाशते ॥ ४० ॥

हैं, किसी विशेषरूप से पृथक्‌रूप से गृहीत नहीं होते वैसे ही सब भाव से नित्य-आनन्दस्वरूप, सर्वसाक्षी, परम-कारण, चिदेकरस परब्रह्म में प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ, पृथक्‌रूप से मैं गृहीत नहीं होता ॥३१-३३॥

नित्य सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोष रहित, निरञ्जन, निष्फल, निष्क्रिय, केवल शुद्ध वह परब्रह्म मैं ही हूँ ॥३४॥

हेय और उपादेय से निर्मुक्त सत्यस्वरूप, इन्द्रिय रहित, एकमात्र अपने सङ्कल्प से असद्रूप भी इस जगत् की सत्ता के सम्पादन में असमर्थ सद्रूप, केवल शुद्ध परब्रह्म ही मैं हूँ ॥३५॥

पुण्य और पाप से रहित, जगत् का परम कारण, अद्वितीय, आनन्दरूप, अविनाशी और ज्योतिःस्वरूप पर-ब्रह्म ही मैं हूँ ॥ ३६ ॥

इस तरह सत्य सङ्कल्पादि गुणों से युक्त, माया के सत्त्व आदि गुणों से शून्य, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप ब्रह्म का—अध्यात्म शास्त्रों के श्रवण तथा गुरु की शुश्रूषा आदि में तत्पर एवं अपने वर्णाश्रम धर्म में निष्ठा रखने वाला योगाभ्यासी पुरुष सदा—ध्यान करे ॥ ३७ ॥

इस रीति से परब्रह्म का अभ्यास कर रहे साधक पुरुष का मन उसी ब्रह्म में अस्त हो जाता है और उसके मन के अस्त हो जाने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है ॥ ३८ ॥

प्रकाश होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अन्त हो जाता है और आत्मा में सुख अवस्थित होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने-आप अपने आनन्दस्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

मुझ से अतिरिक्त कोई दूसरा चिदानन्दमय प्रभु नहीं है। अकेला मैं ही परब्रह्म हूँ, इस प्रकार आत्मा भीतर से प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

वाल्मीकिरुवाच

सखे ! संन्यस्य कर्माणि ब्रह्मणः प्रणयीभव ।
नेष्यसे यदि संसारचक्रावर्तभ्रमः शमम् ॥ ४१ ॥

भरद्वाज उवाच

त्वयोक्तं सर्वमेवेदं ज्ञानं बुद्धं मया गुरो ! ।
बुद्धिश्च निर्मला जाता संसारो न विलम्बते ॥ ४२ ॥

[अर्थात् इस तरह भरद्वाज के द्वारा कहे गये अनुभव को सुनकर सन्तुष्ट वाल्मीकि मुनि भरद्वाज के अनुभव को दृढ़ करने के लिए अवश्य कर्तव्यरूप से 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' इत्यादि श्रुति से सिद्ध संन्यास का उपदेश देते हैं ।]

वाल्मीकि मुनि ने कहा—हे मित्र ! संसारचक्र के आवर्त में भ्रमण करते हुए यदि तुम गृहस्थी में विश्रान्ति-सुख की प्राप्ति नहीं कर रहे हो, तो सब कर्मों को छोड़कर एकमात्र ब्रह्म में ही बिना किसी विक्षेप के आसक्त हो जाओ, क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुति के अनुसार यह निश्चित है कि किसी दूसरे व्यापार में तत्पर न रहकर केवल ब्रह्म में आसक्त हुए संन्यासी की ही मूल-सहित भ्रान्ति की शान्ति हो जाती है । तात्पर्य यह कि एकमात्र संन्यासी को ही शान्ति-सुख मिलता है ॥ ४१ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे गुरो, आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया । मेरी बुद्धि एकदम निर्मल हो गई, अब मेरा यह संसार चिरकाल तक नहीं टिक सकता ॥ ४२ ॥

भगवन्, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियों के लिए कैसा कर्म विहित है, यानी क्या उन्हें कर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, या निवृत्तिरूप कर्मों का (संस्कृत व्याख्या के अनुसार विश्लेषण करते हुए अच्युत ग्रन्थमाला संस्करण में कवा गया है ।) 'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है' इस न्याय के अनुसार इस श्लोक में भरद्वाज ने दो प्रश्न किये हैं । उनमें पहला यह है—जीवन्मुक्त ज्ञानी को कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, या नहीं । और दूसरा यह है, यदि उसके लिए कर्मों का विधान है तो उसे पहले के सदृश नित्य, नैमित्तिक और काम्य सभी कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए अथवा कामनारहित होकर अपने आश्रम के उचित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए । यद्यपि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इस पूर्व के श्लोक से प्रतिपादित सर्वकर्मसंन्यास को भरद्वाज ने ज्ञानी के कार्यरूप से सुना ही है, इसलिए इस तरह के

इदानीं ज्ञातुमिच्छामि ज्ञानिनः कर्म कीदृशम् ।
प्रवृत्तं वा निवृत्तं वा कर्तव्यं च न वा प्रभो ! ॥ ४३ ॥

वाल्मीकिरुवाच

तस्माद्यत्र कृते दोषस्तत्कर्तव्यं मुमुक्षुभिः ।
काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः ॥ ४४ ॥

दोनों प्रश्नों को करना अयुक्त-सा प्रतीत हो रहा है, तथापि (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति) (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र होम करे) इत्यादि श्रुतियों से जीवनपर्यन्त कर्तव्यरूप से बतलये गये कर्मों का 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों से दीक्षा-करण में परित्याग कर दिये जाने पर भी दीक्षा की समाप्ति हो जाने पर जैसे उनका अङ्गीकार किया जाता है, वैसे ही 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मजिज्ञासा के निमित्त छोड़े गये कर्मों का भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद निमित्त के हट जाने पर फिर अङ्गीकार का प्रसङ्ग आ सकता है । यदि इस विषय में यह शङ्का हो कि 'सखे संन्यस्य कर्माणि' इत्यादि वाक्यों से विद्वानों के लिए ही सब कर्मों का संन्यास विहित है, अतः ज्ञानियों को कर्मानुष्ठान की प्राप्ति ही नहीं हो सकती, तो यह भी शङ्का नगण्य है, क्योंकि जिन लोगों ने पूर्वजन्म में ज्ञान की इच्छा से सब कर्मों का संन्यास किया है, उनको उनसे ही गृहस्थ आदि आश्रमों में तत्त्वज्ञान हो जाता है, ऐसे विशेष पुरुषों के प्रति 'सखे संन्यस्य' इत्यादि से किसी अप्राप्त संन्यास का ही विधान किया गया है, अतः उक्त वाक्य में ज्ञानेच्छा के लिए संन्यासपरिपालन विधान की शक्ति ही नहीं रहती, इससे निष्कर्ष यह निकला कि श्रीभरद्वाज ने जो प्रश्न किये हैं, वे युक्तिपूर्ण हैं, युक्ति से रहित नहीं हैं ॥ ४३ ॥

वाल्मीकि ने कहा—इसलिए सम्पूर्ण कर्मों के त्याग के साथ ब्रह्म में एकमात्र आसक्त हो जाना ही संसारभ्रम के निवर्तक ज्ञान में उपाय है, इस मेरे उपदिष्ट अर्थ का अच्छी तरह ज्ञान कर लेने से तुम्हारे सदृश मुमुक्षु पुरुषों को—वही कर्म करना चाहिए, जिस कर्म का सम्पादन करने पर श्रवण आदि में कोई विघ्नरूप दोष न आ पड़े तथा चित्त में विक्षेप डालने वाले मालिन्य पातकादि और किसी तरह का दूसरा दोष न उपस्थित हो जाय । विशेष करके मुमुक्ष को काम्य, निषिद्ध तथा दृष्टि के विक्षेप में

यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान् ।
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः ।। ४५ ।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः ।
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते ।। ४६ ।।
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते ।। ४७ ।।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते ।। ४८ ।।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा ।
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते ।। ४९ ।।

साधनभूत कोई कर्म नहीं करना चाहिए । अर्थात् सबसे पहले तुम्हें काम्य निषिद्ध कर्मों का एवं ज्ञानविरोधी विक्षेप आदि दोषों को पैदा करने वाले अन्यान्य कर्मों का त्याग कर शास्त्र के अभ्यास द्वारा ज्ञानी बन जाना चाहिए। इसके बाद तुम स्वयं ही 'ज्ञानी के कर्म कैसे होते हैं' इस प्रश्न का उत्तर जान जाओगे । जब क्रमशः तत्-तत् भूमिका परिपक्व हो जाती है तब तत्-तत् कर्मों की शान्ति जो होती है उसका उसी समय तुम अनुभव कर सकते हो और प्रारब्ध कर्मों की विचित्रता होने के कारण ज्ञानियों की एकरूप से स्थिति दिखाई न पड़ने से 'ज्ञानियों के कर्म प्रवृत्यात्मक ही हैं या निवृत्यात्मक ही हैं'—ऐसा नियम तो कोई नहीं कर सकता ।। ४४ ।।

मन के गुणों को छोड़कर जब जीव ब्रह्म के गुणों से युक्त हो जाता है तब इसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और यह सर्वव्यापी प्रभु बन जाता है अर्थात् सम्पूर्ण मानसिक गुणों के त्याग से पूर्णानन्द, अद्वय, विशुद्ध, असङ्ग, चिदेकरसत्वादि ब्रह्म के गुणों की प्राप्ति होने पर ही यह जीव ज्ञानी बन सकता है, अन्यथा नहीं ।। ४५ ।।

देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन चार कोशों से परे जो आनन्दमय कोशात्मा है तथा उससे भी परे जो अधिष्ठान ब्रह्म है वही मैं हूँ, इस तरह जब जीव ध्यान करता है तब मुक्त होता है ।। ४६ ।।

कर्ता, कार्य और करण; भोग्य, भोक्ता और भोग; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इससे विनिर्मुक्त तथा इनके प्रयोजक सम्पूर्ण देहादि उपाधियों से एवं इनके फलस्वरूप सुख और दुःखों से जब जीव विनिर्मुक्त होता है तब बिलकुल पूर्णरूप से मुक्त होता है ।। ४७ ।।

सम्पूर्ण भूतों में अनेकों तथा अपने में सम्पूर्ण भूतों को जब जीव अभेदरूप से देखने लगता है तब वह मुक्त होता है ।। ४८ ।।

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों स्थानों को छोड़ कर जब जीव तुरीय आत्मानन्दरूप में प्रवेश करता है तब मुक्त होता है ।। ४९ ।।

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ।। ५० ।।
योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ।
मनस्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ।। ५१ ।।
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।
मज्ज मज्जसि किं द्वैतग्रहक्षाराब्धिवीचिषु ।। ५२ ।।
भज सम्भरिताभोगं परमेशं जगद्गुरुम् ।
इति ते वर्णितं सर्वं वसिष्ठस्योपदेशनम् ।। ५३ ।।
अनेन ज्ञानमार्गेण योगमार्गेण पुत्रक ! ।
भरद्वाज ! महाप्राज्ञ ! सर्वं ज्ञास्यसि निश्चितम् ।। ५४ ।।

जाग्रत् और स्वप्नावस्था की बीज तथा सुषुप्ति से रहित जो जीव की परमात्मा में स्थितिरूप चैतन्य-सुखात्मिका तुरीयावस्था है वही योग की निदिध्यासन के परिपाक से जन्म निर्विकल्पक समाधि की अथवा मुख्य अधिकारी के विचारमात्र से जन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान की परिसमाप्ति है, जो सबसे बड़ा सुखात्मक ज्ञान है। मन के अस्त हो जाने पर मनुष्यों को और किसी दूसरी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती ।। ५०–५१ ।।

हे सखे ! यदि तुम्हें समुद्र में डूबना ही है, तो प्रशान्त तथा अमृतमय तरङ्गों से पूर्ण केवल आनन्दामृत के समुद्र में क्यों नहीं डूबते । व्यर्थ द्वैतरूप मकरों से पूर्ण लवणसागर के तरङ्गों में क्यों डूबते हो ।। ५२ ।।

हे प्रिय ! अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के वास्ते अर्धनारीश्वर आदि वेष-धारण किये हुए जगद्गुरु सगुण परमेश्वर की उपासना करो, यह जो वसिष्ठ महाराज ने तुम्हें उपदेश दिया है, हे महाप्राज्ञ भरद्वाज, उनके इसी ज्ञानमार्ग या योगमार्ग से तुम सब कुछ जान जाओगे, यह बिलकुल निश्चित है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अर्थात् पूर्व में कहे गये महेश्वर की उपासना करके उससे दया प्राप्त कर लेने पर तुम्हें—वसिष्ठजी के द्वारा कहे गये ज्ञानमार्ग से या योगमार्ग से तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद एक के विज्ञान से सबका विज्ञान हो जानेपर तथा सम्पूर्ण संशयों के मूल अज्ञान नाश हो जानेपर सब सन्देहों के विच्छेद से—विश्रान्ति अवश्य होगी ।। ५३–५४ ।।

परामर्शेन शास्त्रस्य गुरुवाक्यार्थबोधनात् ।
अभ्यासात्सर्वसिद्धिः स्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ५५ ॥
तस्मात्त्वं सर्वमुत्सृज्य कुर्वभ्यासे स्थिरं मनः ॥ ५६ ॥

भरद्वाज उवाच

रामः प्राप्तः परं योगं स्वात्मनाऽऽत्मनि हे मुने ! ।
कथं वसिष्ठदेवेन व्यवहारपरः कृतः ॥ ५७ ॥
इति ज्ञात्वाऽहमप्येवमभ्यासार्थं यते तथा ।
तथैव व्यवहारोऽपि व्युत्थाने मे भविष्यति ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिरुवाच

यदा परिणतः साधुः स्वस्वरूपे महामनाः ।
विश्वामित्रस्तदोवाच वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ५९ ॥

विश्वामित्र उवाच

हे वसिष्ठ ! महाभाग ! ब्रह्मपुत्र ! महानसि ।
गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥ ६० ॥
दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥ ६१ ॥
रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि ।
विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम् ॥ ६२॥
शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः ।
मलत्रयमपक्वं चेत्कथं बुद्ध्यति पक्ववत् ॥ ६३ ॥
ज्ञानं प्रत्यक्षमेवेदं गुरुशिष्यप्रयोजनम् ।
उभावपि यतो योग्यौ सर्वेषामीदृशामपि ॥ ६४ ॥
इदानीं कृपया रामव्युत्थानं कर्तुमर्हसि ।
पदे परिणतस्त्वं हि कार्याविष्टा वयं यतः ॥ ६५ ॥
स्मरन्कार्यं मम विभो ! यदुद्दिश्याऽहमागतः ।
प्रार्थितश्चातिकष्टेन राजा दशरथः स्वयम् ॥ ६६ ॥

क्योंकि शास्त्रों के विचार से, गुरु के वाक्यों का अर्थ ठीक-ठीक समझने से तथा अभ्यास से सब कार्यों की सिद्धि होती है, यह वेदों का अनुशासन है ।अर्थात् उसमें शास्त्राचार्यों के उपदेश तथा अपने अनुभव की एकार्थनिष्ठता के निश्चय के लिए अर्थचिन्तना वृत्तिरूप परामर्श विचार और शब्दघोषणा वृत्तिरूप एक ही शब्द को बार-बार रटनारूप अभ्यास अवश्य करना चाहिए ॥ ५५ ॥

इसलिए हे भरद्वाज, तुम सब का परित्याग कर केवल अभ्यास में अपना मन स्थिर करो ॥ ५६ ॥

भरद्वाज ने कहा—हे मुने ! श्रीरामचन्द्रजी तो ब्रह्म में अपने से ही परमयोग को यानी उपाधि के त्याग से ऐक्य को प्राप्त हो गये किन्तु फिर महाराज वसिष्ठजी ने उन्हें व्यवहार में कैसे लगाया ॥ ५७ ॥

यह जानकर मैं भी इसी तरह क अभ्यास के लिए यत्न करूँगा और समाधि से उठने के बाद मेरा भी वैसा ही व्यवहार चलेगा ॥ ५८ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! महामना साधुस्वभाव श्रीरामजी अपने स्वरूप में अवस्थित हो गये, तब ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठजी ने विश्वामित्र कहने लगे ॥ ५९ ॥

विश्वामित्र ने कहा—हे ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी, आप महान् हैं । पहले कहे गये शक्तिपात के द्वारा शिष्योद्धारसामर्थ्यरूप अपना गुरुत्व आपने शीघ्र ही हम लोगों को दिखला दिया ॥ ६० ॥

अपने दर्शन स्पर्श और वाक्यभोग से जो कृपा करके शिष्य के शरीर में शिव-स्वरूप परमात्मा का प्रवेश उत्पन्न कर दे, वही गुरु है । अमोघ सङ्कल्पवाले आपके सदृश महापुरुषों की कृपादृष्टि से भी उत्तमशिष्य की कुण्डलिनी के षट्चक्रभेदन द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में परम शिव का प्रवेशरूप तथा जीव की उपाधि के परित्याग से शुद्ध ब्रह्म का प्रवेश रूप शक्तिपात सिद्ध हो जाता है ॥ ६१ ॥

आपके शिष्य श्रीरामचन्द्रजी भी विशुद्धात्मा और स्वयं विरक्त थे, केवल आत्मा में विश्रान्ति चाह रहे थे, अतः आपके संवाद से परम पद को प्राप्त हो गये ॥ ६२ ॥

गुरु-वाक्य श्रवण से होने वाले बोध में शिष्य की बुद्धि ही कारण है । काम, कर्म और वासनारूप तीनों मलों का यदि परिपाक नहीं हुआ है, तो परिपक्व की तरह फिर शिष्य कैसे जान सकता है ॥ ६३ ॥

यह ज्ञान ही गुरु और शिष्य का प्रत्यक्ष प्रयोजन है, क्योंकि यदि गुरु और शिष्य दोनों योग्य होंगे, तो इस तरह के कैवल्यरूपी सब पुरुषार्थों के भी वे भाजन अवश्य होंगे ही । अर्थात् अच्छे बुद्धिमान् शिष्यों की उपस्थिति में शास्त्र सफल हुआ अवश्य देखा गया है ॥ ६४ ॥

हे भगवन् ! हम लोगों के ऊपर दया कर अब आप श्रीरामचन्द्रजी को समाधि से उठा सकते हैं, क्योंकि आप तो परमपद में कृतकृत्य हो चुके हैं, लेकिन हम लोग अभी संसारिक कार्यों में ही फँस हुए हैं ॥ ६५ ॥

हे विभो ! बड़े कष्ट के साथ जिसके लिए मैंने स्वयं राजा दशरथ से प्रार्थना की है और जिस आशय से मैं यहाँ आपके पास आया हूँ उस मेरे निर्विघ्न यज्ञ सिद्धिरूप कार्य का स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजी को अब समाधि से उठाने की कृपा करें ॥ ६६ ॥

तद्वृथा मा कृथाः सर्वं शुद्धेन मनसा मुने ! ।
देवकार्यं चरमोऽन्यदवतारप्रयोजनम् ॥ ६७ ॥
सिद्धाश्रमं मया नीतो रामो राक्षसमर्दनम् ।
करिष्यति ततोऽहल्यामुक्तिं च जनकात्मजाम् ॥ ६८ ॥
परिणेष्यति कोदण्डभङ्गेन कृतनिश्चयः ।
रामस्य जामदग्न्यस्य कर्ता नष्टां गतिं ध्रुवम् ॥ ६९ ॥
पितृपैतामहं राज्यं विगतोऽभयनिस्पृहः ।
वनवासच्छलेनेह दण्डकारण्यवासिनः ।
उद्धरिष्यति तीर्थानि प्राणिनो विविधानि हि ॥ ७० ॥
सीताहरणदौर्गत्यच्छलेन भुवि शोच्यताम् ।
दर्शयिष्यति सर्वेषां रावणादिवधादपि ॥ ७१ ॥
स्त्रीसङ्गिनामथास्वास्थ्यं वानरादेः परावृतिम् ।

हे मुने ! मेरे उस सब कार्य को आप अपने शुद्ध मन से व्यर्थ न बना डालें। श्रीरामचन्द्रजी के समाधि से उठानेपर अन्य भी अवतार के प्रयोजन जो देवताओं के कार्य हैं उनका भी हम लोग सम्पादन कर लेंगे ॥ ६७ ॥

जब मैं श्रीरामचन्द्रजी को अपने आश्रम ले जाऊँगा तब वे राक्षसों का नाश करेंगे और उसके बाद अहल्या को शाप से मुक्त करेंगे। अनन्तर निश्चय कर भगवान् शङ्कर का धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीता के साथ अपना विवाह करेंगे और यह भी निश्चित है कि जमदग्नि के लड़के परशुराम की गति को अर्थात् परलोक मार्ग को वे नष्ट कर देंगे ॥ ६८–६९ ॥

इस संसार में पिता-पितामह के राज्य को त्याग कर कर वनवास के बहाने जंगल में पहुँच करके जीवन्मुक्त होने के कारण ही अभय और निःस्पृह होते हुए श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्य के निवासी मुनियों, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियों का राक्षसों का वध कर भय से उद्धार करेंगे ॥ ७० ॥

सीताहरण प्रयुक्त हुई दुर्गति के बहाने रावण आदि का वध कर इस पृथिवी के ऊपर स्त्री में आसक्त सभी पुरुषों की कैसी दुर्गति होती है, यह दिखलायेंगे और अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी इन्द्र के वरदान द्वारा युद्ध में मरे हुए वानर, ऋक्ष आदि पुनः कैसे जी उठे यह भी प्रदर्शित करेंगे ॥ ७१, ७२ ॥

उसके बाद अग्नि में प्रवेश द्वारा सीता की शुद्धि की इच्छा कर रहे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शिष्ट पुरुषों में अपने उत्तम चरित्र की माननीयता दर्शायेंगे। अनन्तर राज्य में अभिषिक्त होकर स्वयं जीवन्मुक्त तथा निस्पृह होते हुए

सीताविशुद्धिमन्विच्छँल्लोकानुमतिमात्मनः ॥ ७२ ॥
जीवन्मुक्तो निस्पृहोऽपि क्रियाकाण्डपरायणः ।
भविष्यति गतिं द्रष्टुं ज्ञानकर्मसमुच्चयौ ॥ ७३ ॥
यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वाऽपि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः ।
सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ॥ ७४ ॥
इति कार्यमशेषेण त्रैलोक्यस्य ममापि हि ।
अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना ॥ ७५ ॥
नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इति श्रुत्वा च ते सर्वे विश्वामित्रेण भाषितम् ।
सिद्धाश्च वरयोगीन्द्रा वसिष्ठप्रमुखाः पुनः ॥ ७७ ॥

कर्म करने के अधिकारी पुरुषों को कर्मानुष्ठान से ही गति मिलती है, यह दिखलाने के लिए क्रियाकाण्ड में तत्पर होंगे एवं ज्ञान उपासना और कर्म दोनों के अधिकारी पुरुषों को ब्रह्मलोक आदि की गति दिखलाने के लिए उपासना और कर्म दोनों का समुच्चय करेंगे ॥ ७३ ॥

जो लोग भगवान् का दर्शन करेंगे, उनके चरित्र का स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान् के स्वरूप का दूसरों को बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओं में अनुगत अपने भक्तों को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे अर्थात् कर्ममार्ग में प्रवृत्त हो केवल वर्तमान काल के मनुष्य का ही भगवान् उस पृथिवीपर उपकार नहीं करेंगे, बल्कि उत्तरकाल में भी स्मरण, कीर्तन तथा अपने चरित्र के प्रबोधन आदि के द्वारा अपने अनुगत भक्तों को जीवन्मुक्ति-सुख भी प्रदान करेंगे ॥ ७४ ॥

इस तरह तीनों लोक का तथा मेरा भी हित इस महापुरुष महात्मा श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा सम्पूर्णरूप से सम्पन्न होगा ॥ ७५ ॥

हे सत्पुरुष ! आप लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार करें, एकमात्र इनके नमस्कार से ही आप लोग सबको जीत लेंगे अर्थात् आप लोगों को किसी दूसरे साधन की आवश्यकता न होगी। आप लोगों में कोई भी पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की तरह ही जीवन्मुक्त होकर निर्विकल्पक समाधि में विश्रान्ति पाकर सुखपूर्वक बढ़ता रहे ॥ ७६ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस तरह का विश्वामित्र का भाषण सुनकर वे सिद्ध तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ योगीन्द्र सब श्रीरामचन्द्रजी की उत्तर चरित्ररूप

रामाङ्घ्रिपद्मरजसामादरस्मरणस्थिताः ।
दूरश्रुतोत्तरकथाः कथया मैथिलीपतेः ॥ ७८ ॥
न सन्तुतोष भगवान्वसिष्ठोऽन्ये महर्षयः ।
गुणान् गुणनिधेस्तस्य ब्रुवन्नाकर्णयञ्छ्रुतम् ।
विश्वामित्रमुनिं प्राह वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ७९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रूहि विश्वामित्र मुने ! रामो राजीवलोचनः ।
कोऽयमभूद्‌बुधः किं वा मनुष्यो वाऽथ राघवः ॥ ८० ॥

विश्वामित्र उवाच

अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः ।
विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥ ८१ ॥
परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः ।
सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥ ८२ ॥
अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान् ।
विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥ ८३ ॥
अयं व्युत्क्रान्तनिःसारमृदुसंसारधूर्तकैः ।
आनन्दसिन्धुर्विततो वीतरागैर्विगाह्यते ॥ ८४ ॥
क्वचिन्मुक्त इवाऽऽत्मस्थः क्वचित्तुर्यपदाभिधः ।
क्वचित्प्रणीतप्रकृतिः क्वचित्तत्स्थः पुमानयम् ॥ ८५ ॥
अयं त्रयीमयो देवस्त्रैगुण्यगहनातिगः ।
जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोद्भुतः ॥ ८६ ॥
अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः ।
अयमेव महादेवः संहर्ता च त्रिलोचनः ॥ ८७ ॥
अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान् ।
बिभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥ ८८ ॥

दुर्लभ कथा सुनकर पुनः भगवान् श्रीराम के चरणकमल-रज के आदर में यानी नमस्कार में तथा उनके स्मरण में आस्थायुक्त हो गये। मैथिलीपति श्रीराम की कथा सुनने से भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त न हो सके, इसलिए उन सबने दूसरों के द्वारा कहे गये गुण के सागर उनके गुणों का श्रवण किया तथा सुने गये गुणों का दूसरों से वर्णन किया। अनन्तर भगवान् वसिष्ठ ऋषि विश्वामित्र मुनि से कहने लगे ॥ ७७-७९ ॥

वसिष्ठजी ने कहा—हे मुने विश्वामित्र जी ! इन श्रोताओं को आप साफ-साफ कहा दीजिये कि ये राजीव-लोचन रघुकुलसमुद्भव श्रीरामचन्द्रजी इस जन्म के पहले देव या मनुष्य क्या थे ? ॥ ८० ॥

विश्वामित्र ने कहा—हे सज्जनो ! आप लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजी में विश्वास कर लें कि परमपुरुष साक्षात् भगवान् वासुदेव ये ही हैं, विश्व के कल्याण के लिए जिन्होंने क्षीरसागर का मथन किया था तथा गूढ अभिप्राय से भरी उपनिषदों के तत्त्वगोचर ये ही हैं अर्थात् किसी अन्य प्रमाण के विषय ये नहीं हैं ॥ ८१ ॥

परिपूर्ण परानन्द, समस्वरूप, श्रीवत्समणि के चिह्न से सुशोभित यही श्रीरामचन्द्र जी भक्ति से भली-भाँति प्रसन्न कर दिये जाने पर सब प्राणियों को सब पुरुषार्थों के प्रदाता होते हैं ॥ ८२ ॥

कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्र जी सबका संहार करते हैं और यही मिथ्या पदार्थों की सृष्टि करते हैं। यही विश्व के आदि तथा विश्व के उत्पादक हैं और यही विश्व के धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं ॥ ८३ ॥

जिन्होंने अपने विचार द्वारा निःसार और कोमल कार्यकारणबन्ध रूप संसार का बाध कर दिया है ऐसे संसार की खिल्ली उड़ाने वाले वीतराग यतिगण इसी आनन्द के सागर में गोते लगाते हैं ॥ ८४ ॥

यही परम पुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्र जी कहीं पर ज्ञान से मुक्त, कहीं पर तुर्यपदाभिधेय अपने स्वरूप में स्थित अतएव नित्यमुक्त, कहीं पर प्रकृति (माया) के नियामक और कहीं पर माया के भीतर बद्ध हुए-से मालूम पड़ते हैं अर्थात् यही भगवान् श्रीराम चन्द्र जी ज्ञानमुक्त, नित्यमुक्त माया के नियामक तथा माया के भीतर बद्ध चार प्रकार से स्थित हैं ॥ ८५ ॥

यही भगवान् वेदमय शरीरधारी हैं, तीनों गुणों से परे अतिगहन यही हैं और शिक्षा कल्प आदि छः अङ्गों से समन्वित वेदात्मा अद्‌भुत पुरुष यही हैं ॥ ८६ ॥

विश्व का पालन करने वाले चतुर्भुज विष्णु भगवान् यही हैं, विश्व के रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसार का संहार करने वाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं ॥ ८७ ॥

ये अजन्मा होते हुए भी अपनी मायाशक्ति के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं, ये सबसे महान् हैं, मोह रूपी नींद में सोये हुए न रहने के कारण ये सदा जागरूक रहते हैं और रूपरहित होते हुए भी ये भगवान् इस विश्व को धारण करते हैं ॥ ८८ ॥

विजयो विक्रमेणेव प्रकाश इव तेजसा ।
प्रज्ञोत्कर्षः श्रुतेनेव सुपर्णेनाऽयमुह्यते ॥ ८९ ॥
अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान् ।
धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ॥ ९० ॥
हा स्वर्गममुना शून्यं हा पातालादिहाऽऽगतः ।
तस्याऽऽगमादयं लोको मध्यमः श्रेष्ठतां गतः ॥ ९१ ॥
राम ! इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान् ।
चिदानन्दघनो रामः परमात्माऽयमव्ययः ॥ ९२ ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः ।
वयं त्ववरमेवाऽस्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥ ९३ ॥
रघोरघोच्छेदकरो भगवानिति शुश्रुम ।
वसिष्ठ ! कृपया त्वं हि व्यवहारपरं कुरु ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वाऽवस्थितस्तूष्णीं विश्वामित्रो महामुनिः ।

ये भी भगवान् श्रीरामचन्द्र जी श्रीगरुड जी से वैसे ही ढोये जाते हैं जैसे पराक्रम से विजय प्राप्त की जाती है, तेज से जैसे भास्वर रूप प्रकाश धारण किया जाता है, जैसे सुने गये शास्त्र से प्रज्ञा में उत्कर्ष प्राप्त किया जाता है ॥ ८९ ॥

ये राजा दशरथ जी धन्य हैं, जिनके पुत्र परम पुरुष साक्षात् भगवान् हुए । वह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्त से अर्थात् यह रावण मेरा दुश्मन है—इस रूप से चिन्तन करेंगे ॥ ९० ॥

अहो विष्णुशरीरधारी इनसे शून्य स्वर्ग की दशा शोचनीय हो गई है, और अहो, शेषमूर्ति श्रीलक्ष्मणजी जो यहाँ पाताल से आ गये हैं, इसलिए उस पाताल की दशा भी अब शोचनीय हो गई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ आ जाने से यह भूलोक श्रेष्ठ हो गया है ॥ ९१ ॥

क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रजी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं । ये ही श्रीरामचन्द्रजी चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं ॥ ९२ ॥

अपनी इन्द्रियों को रोक रखने वाले योगीजन ही श्रीरामचन्द्रजी को वस्तुतः जानते हैं, हम लोग तो इनके इस छोटे स्वरूप का ही निरूपण या दर्शन करने में समर्थ हैं ॥ ९३ ॥

हे वसिष्ठजी हम लोगों ने ऐसा सुना है कि वे ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघु के वंश के पापों का उच्छेद करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहार में लगायें ॥ ९४ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार कह

वसिष्ठस्तु महातेजा रामचन्द्रमभाषत ॥ ९५ ॥

वसिष्ठ उवाच

राम राम ! महाबाहो ! महापुरुष ! चिन्मय ! ।
नाऽयं विश्रान्तिकालो हि लोकानन्दकरो भव ॥ ९६ ॥
यावल्लोकपरामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः ।
तावद्रूढसमाधित्वं न भवत्येव निर्मलम् ॥ ९७ ॥
तस्माद्राज्यादिविषयान्पर्यालोक्य विनश्वरान् ।
देवकार्यादिभारांश्च भज पुत्र ! सुखी भव ॥ ९८ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तोऽपि यदा रामः किञ्चिन्नोचे लयं गतः ।
तदा सुषुम्नया सोऽपि विवेश हृदयं शनैः ॥ ९९ ॥
शक्तिप्राणमनःप्रसक्तिकरणो जीवः प्रकाशात्मको
नाडीरन्ध्रसुपुष्टसर्वकरणः प्रोन्मील्य नेत्रे शनैः ।

कर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये, परन्तु महातेजस्वी महाराजवसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगे ॥ ९५ ॥

महाराज वसिष्ठजी ने कहा—हे रामजी ! हे महाबाहो ! हे चिन्मय महापुरुष ! यह आत्मा में विश्रान्ति का समय नहीं है। कुछ दिन तक अभी इस संसार के लिए आनन्दकारक बनें ॥ ९६ ॥

उत्तम अधिकार प्राप्त नहीं करते योगी को निर्मल समाधि में बैठ जाना युक्त नहीं होता है ॥ ९७ ॥

इसलिए हे पुत्र ! कुछ कालतक विनाशी राज्य आदि विषयों का अनुभव करके तथा देवताओं के कार्य आदि अपने ऊपर लिये गये अधिकारभार को समाप्त करके पीछे समाधि लगाओ और सुखी रहो ॥ ९८ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—इस तरह महाराज वसिष्ठजी के कहने पर ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त श्रीरामचन्द्रजी बाह्य अर्थों को न सुनने से तथा वाणी आदि इन्द्रियों की चेष्टाओं का उपरम हो जाने से जब कुछ भी न बोल सके तब वसिष्ठ महाराज उनके शरीर में सङ्कल्प द्वारा प्रविष्ट होकर उनकी सुषुम्ना नाड़ी से धीरे-धीरे हृदय कमल में जा पहुँचे । वहाँ पहुँच कर उनके विलीन हुए जीवोपाधि लिङ्ग शरीर को घनीभूत बना कर उसे बाहर ऐसे खींच लाये, जैसे बीज के अन्दर प्रविष्ट होकर वायु बीजान्तर्गत अङ्कुर को बाहर खींच लाती है ॥ ९९ ॥

पहले प्राण आदि की बीजभूत आधारशक्ति में, उसके बाद प्राणों का आविर्भाव होनेपर प्राणों में और

दृष्ट्वोत्कृष्टवसिष्ठमुख्यविदुषो
निर्मुक्तसर्वैषणः ।
कृत्याकृत्यविचारणादिरहितः
सर्वान्प्रतीक्ष्य स्थितः ॥१००॥
श्रुत्वा वसिष्ठवचनं गुरुवाक्यमिति स्वयम् ।
श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् रामचन्द्रः समाहितः ॥१०१॥

श्रीराम उवाच

न विधेर्न निषेधस्य त्वत्प्रसादादयं प्रभुः ।
तथापि तव वाक्यं तु करणीयं हि सर्वदा ॥१०२॥
वेदागमपुराणेषु स्मृतिष्वपि महामुने ! ।
गुरुवाक्यं चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ॥१०३॥
इत्युक्त्वा चरणौ तस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
शिरसा धार्य सर्वात्मा सर्वान्प्राह घृणानिधिः ॥१०४॥

तत्पश्चात् मन का आविर्भाव होने पर मन में चिदाभासरूप से क्रमशः प्रवेश करने वाला प्रकाशात्मक जीव—प्राणद्वार सम्पूर्ण नाडीरन्ध्रों में प्रवेश करके समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को आविष्कृत करते हुए धीरे से आँखें खोलकर बाहर बैठे हुए अपने पूज्य वसिष्ठ आदि विद्वानों को देख करके स्वयं कृतकृत्य होने के कारण समस्त अभिलाषाओं से शून्य, कृत्य एवं अकृत्य अवश्य कर्तव्य और त्याज्य के व्यवहार के गुण और दोषों की चिन्ता से तथा इनको करने या न करने से होनेवाली हानि और लाभ की चिन्ता से रहित 'अब वे इस तरह मुझसे क्या कहते हैं', इस अभिप्राय से उन सबकी प्रतीक्षा कर स्थित रहा ॥ १०० ॥

अनन्तर हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! इत्यादि पहले जो कहा गया महाराज वसिष्ठजी का वचन था, वही फिर उन्हीं के द्वारा सुनाया गया, उसे सुनकर एवं यह गुरुवाक्य अनुलङ्घनीय है—इस अपने पिता, भाई तथा बन्धुओं की प्रार्थना को भी सुन करके सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने अवतार का तात्पर्य समझते हुए सावधान होकर कहने लगे ॥ १०१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे भगवन् ! आपकी दया से यह जीव अब विधि और निषेध का विषय नहीं रहा, साक्षात् ब्रह्मरूप हो गया है; तथापि आपका वाक्य तो मुझे सर्वदा पालन करना ही होगा ॥ १०२ ॥

हे महामुने ! वेदों, आगमों, पुराणों और स्मृतियों में भी गुरुवाक्य ही विधि कही गई और उसके विरुद्ध आचारण करना निषेध कहा गया है ॥ १०३ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वे शृणुत भद्रं वो निश्चयं नः सुनिश्चितम् ।
आत्मज्ञानात्परं नास्ति गुरोरपि च तद्विदः ॥१०५॥

सिद्धादय ऊचुः

रामैवमेव सर्वेषां मनसि स्थितिमागतम् ।
त्वत्प्रसादाच्च सकलं संवादेन दृढीकृतम् ॥१०६॥
सुखी भव महाराज ! रामचन्द्र ! नमोऽस्तु ते ।
वसिष्ठेनाप्यनुज्ञाता गच्छामोऽद्य यथागतम् ॥१०७॥

वाल्मीकिरुवाच

एवमुक्त्वा गताः सर्वे रामसंस्तवने रताः ।
रामचन्द्रस्य शिरसि पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥१०८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम् ।
अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज ! सुखी भव ॥१०९॥

यों कहकर उस महात्मा वसिष्ठ महाराज के चरणों को अपने सिरपर रखकर सबकी आत्मा करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी बोले अर्थात् परमपुरुषार्थ दानरूप गुरुद्वारा किये गये उपकार की कोई दूसरी निष्कृति न देख रहे श्रीरामजी ने अब अपने सिरपर उनके चरण रखने के बहाने अपने को ही गुरु महाराज को समर्पित करके सबसे उत्कृष्ट ज्ञान की महिमा तथा स्वयं प्रत्यक्ष समनुभूत गुरु के माहात्म्य का वहाँपर उपस्थित सब लोगों को उपदेश दिया ॥ १०४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—आप लोग हमारे इस निर्णय को अच्छी तरह सुन लें, इससे आप लोगों का बड़ा कल्याण होगा। यह हमें बिलकुल निश्चित है कि आत्म-तत्त्वज्ञान तथा आत्मतत्त्वज्ञानी गुरु से बढ़कर इस संसार में और कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है ॥ १०५ ॥

सिद्ध आदि लोगों ने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी ! जैसा आप कह रहे हैं वैसा ही आपकी दया से हम लोगों के मन में स्थित था और अब तो यह सब आपके इस संवाद से बिलकुल दृढ़ हो गया ॥ १०६ ॥

हे महाराज श्रीरामचन्द्रजी ! आप सुखी होये, आपको नमस्कार है। अब हम लोग वसिष्ठजी से भी अनुमति लेकर जहाँ से आये थे वही जा रहे हैं ॥ १०७ ॥

वाल्मीकिजी ने कहा—हे भरद्वाज ! इस प्रकार कह कर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करते हुए वे सबके सब चल दिये और श्रीरामचन्द्रजी के ऊपर फूलों की वृष्टि होने लगी ॥ १०८ ॥

**इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते
वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा ।
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा
परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति ॥११०॥
य इमं शृणुयान्नित्यं विधिं रामवसिष्ठयोः ।
सर्वावस्थोऽपि श्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति ॥१११॥**

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे रामव्युत्थानं नाम अष्टाविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२८ ॥

निर्वाणप्रकरणपूर्वार्द्धं समाप्तम् ॥

हे भरद्वाज ! श्रीरामचन्द्रजी की यह सब पूरी कथा मैंने तुमसे कह सुनायी, इसी क्रम से तुम भी अपना सब कार्य करते हुए सुखी रहो ॥ १०९ ॥

हे भरद्वाज ! महाराज वसिष्ठजी की वचनपङ्क्तिरूपी रत्नमाला से भूषित यह श्रीरामचन्द्रजी की सिद्धि मैंने तुमसे कही है, वह निखिल कविकुलों और योगियों की सेवा के योग्य है तथा परम गुरु के कृपाकटाक्ष से श्रवणादि के द्वारा सेवित हो, वह मुक्तिमार्ग को देती है ॥ ११० ॥

जो इस वसिष्ठ और श्रीरामचन्द्रजी के संवादप्रकार को प्रतिदिन सुनेगा, वह मोह-मालिन्य-राग-द्वेष-महापातक और उपपातक आदि सब दोषों से युक्त अवस्थाओं में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही सब दोषों से मुक्त हो जायगा और शान्त्यादि गुणों की प्राप्ति द्वारा ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा, फिर अधिकारी पुरुष के लिए तो कहना ही क्या ॥ १११ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में निर्वाणप्रकरण में सामव्युत्थान नामक कुसुमलता का एक सौ अट्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाप्रभुलाल गोस्वामि विरचित-योगवासिष्ठभाषानुवाद में निर्वाणप्रकरण पूर्वार्ध समाप्तं ॥